प्रत्येक विद्यालय महाविद्यालय तथा पुस्तकालय में रखने

योग्य हमारे उत्कृष्ट आलोचना-ग्रन्थ।

आस्था के चरण	—डा० नगेन्द्र	५०·
रस-सिद्धान्त (पुरस्कृत)	—डा० नगेन्द्र	२५·
भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका	—डा० नगेन्द्र	१३·
देव और उनकी कविता	—डा० नगेन्द्र	१२·
आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	—डा० नगेन्द्र	५·
सियारामशरण गुप्त	—डा० नगेन्द्र	१०·
नयी समीक्षा : नये संदर्भ	—डा० नगेन्द्र	७·
समस्या और समाधान	—डा० नगेन्द्र	७·
साहित्य : नया और पुराना	—आचार्य विनयमोहन शर्मा	१२·
प्रसाद-प्रतिभा	—सं० डा० इन्द्रनाथ मदान	१५·
राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धांत और साहित्य (पुरस्कृत)	—डा० विजयेन्द्र स्नातक	३५·
विचार के क्षण	—डा० विजयेन्द्र स्नातक	१५·
ब्रजभाषा के कृष्णभक्ति-काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प	—डा० सावित्री सिन्हा	२५·
रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र (पुरस्कृत)	—डा० निर्मला जैन	३०·
जयशंकरप्रसाद : वस्तु और कला (पुरस्कृत)	—डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल	३५·
मध्यकालीन हिन्दी-काव्य मे भारतीय संस्कृति	—डा० मदनगोपाल गुप्त	३५·
हिन्दी वैष्णव साहित्य में रस-परिकल्पना (पुरस्कृत)	—डा० प्रेमस्वरूप गुप्त	३५
हिन्दी नाटकों की शिल्पविधि का विकास	—डा० शान्ति मलिक	४०·
छायावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि	—डा० सुषमा पाल	४०·
हिन्दी समस्या नाटक	—डा० मान्धाता ओझा	२५·
अवधी का लोक-साहित्य	—डा० सरोजनी रोहतगी	५०·
रंगमंच और नाटक की भूमिका (पुरस्कृत)	—डा० लक्ष्मीनारायण लाल	१२·
कहानी : स्वरूप और संवेदना	—राजेन्द्र यादव	१५·
साहित्य के आयाम	—डा० कोमलसिंह सोलंकी	१०·
माखनलाल चतुर्वेदी : यात्रा पुरुष	—सं० श्रीकान्त जोशी	३०·
विद्यापति-विभा	—डा० वीरेन्द्रकुमार बड़सूवाला	१५·
समसामयिक हिन्दी साहित्य : उपलब्धियाँ	—सं० मन्मथनाथ [illegible]	१२

नेशनल पब्लि[illegible]हाउस

२३, [illegible]

(शोध और समीक्षा की अर्द्धवार्षिकी)

१९७२ अङ्क–१

हिन्दी-विभाग

संभावना

(अप्रैल तथा अक्तूबर मे प्रकाश्य)

वार्षिक शुल्क

देश मे १० रु० : विशिष्ट आवरण १५ रु०

विदेशो मे . ५ डॉलर ८ डॉलर

३० शिलिंग ५० शिलिंग

प्रति अंक ... ८ रु० : विशिष्ट आवरण १० रु०

विदेशो मे ... ३ डॉलर . विशिष्ट आवरण ५ डॉलर

२० शिलिंग : विशिष्ट आवरण ३० शिलिंग

●

[illegible] : डॉ० शिवप्रसाद गोयल हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ।

हरि चन्द शर्मा, मैनेजर, वर्कर्स प्रिंटिंग प्रेस, अम्बाला छावनी ।

डॉ० शरद् कुमार दत्त
उपकुलपति,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

संदेश

दिनाङ्क : २४-३-७२

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग ने शीघ्र ही 'संभावना' नामक एक अर्द्धवार्षिक पत्रिका निकालने का संकल्प किया है। पत्रिका के उद्देश्य सराहनीय है और मेरा विश्वास है कि इसके द्वारा साहित्य और विभिन्न विद्या-शाखाओं से सम्बद्ध स्थानीय तथा बाहर के सहयोगी लेखकों द्वारा अभिव्यक्त नाना विचारधाराओं के माध्यम से साहित्यिक चिन्तन और शोध के वातावरण का निर्माण होगा।

मैं पत्रिका के उद्देश्यों की पूर्ति की कामना करता हूँ और साथ ही आशा करता हूँ कि विभाग, हिन्दी को विकसित व समृद्ध करने की दृष्टि से उपयोगी, अपने बहुमुखी कार्यक्रमों के आयोजन द्वारा निरन्तर सशक्त होता चलेगा।

—शरत् कुमार दत्त

विषय-सूची

सम्पादकीय

'सभावना' का प्रथम अक पाठको के हाथ मे है।

नाना विचार-दृष्टियो, जीवन-प्रेरणाओं और परिस्थितियो-प्रभावो के संश्लेष से काव्य और साहित्य का जो स्वरूप नित-नवीन ढग से आज संघटित होता चल रहा है उस पर शुद्ध सारस्वत दृष्टि से व जिज्ञासु भाव से विचार-विमर्श करते रहना साहित्य के किसी भी गभीर अध्येता का एक प्रियतर कार्य है। अत कुरुक्षेत्र विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग के सभी मित्रो ने भी सोचा कि पारस्परिक लाभ की दृष्टि से साहित्यिक विचार-विनिमय का एक औपचारिक माध्यम बनाना चाहिए। 'संभावना' के आविर्भाव की छोटी सी सहज कहानी बस इतनी ही है।

साहित्य के स्वरूप-निर्माण की प्रक्रिया भारत व विश्व के अन्य देशों मे शताब्दियो से चलती रही है। निश्चय ही गभीर आस्था के साथ हुए उस प्रयत्न ने साहित्य-चिन्ता को एक अत्यन्त प्रौढ धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। इस क्षेत्र मे हुई उपलब्धियाँ भावयित्री प्रतिभा का मानो चरम निदर्शन ही प्रस्तुत करती हैं।

पर साथ ही आधुनिक परिस्थितियो विचार–दृष्टियो, आस्थाओ और जीवन-आकाक्षाओ ने साहित्य के स्वरूप-निर्माण की उक्त प्रक्रिया को एक नवीन ही मोड व गति दे दी है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर, नाना नवीन साधनो से, वैचारिक सम्पर्कों और पारस्परिक प्रभावो की मात्रा पिछले सौ वर्षों मे बड़ी तेज़ी से बढी है। इस स्थिति ने प्रत्येक साहित्य को आत्मावलोकन, तुलना, निजी उपलब्धि के अकन व मूल्याकन-पुनर्मूल्याकन के लिए प्रेरित किया है। प्रधानतः उत्प्रेरण, शिक्षण व रसास्वादन की दृष्टियो से ही निर्मित साहित्य पर अब साहित्येतर अनुशासनो (इतिहास, दर्शन, जो पहले भी थे—राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान आदि) ने भी दबाव डाल कर साहित्य को अपनी चेतना, न्यूनाधिक रूप मे—कही-कही विषमानुपात मे भी—आत्मसात् करने को बाध्य कर दिया है। ऐसी स्थिति मे एक विशेष तनाव पैदा हो गया है:

एक वर्ग काव्य और साहित्य के क्षेत्र को जीवन के मूल या शुद्ध रूप से जोड़ कर उसे विजातीय तत्त्वों व प्रभावों से बचाकर उसकी मूल प्रकृति को सुरक्षित रखने मे प्राणपण से जुटा हुआ है तो अन्य दल साहित्य को अधिक पूर्ण बनाने के उद्देश्य से उसे जीवन व व्यवहार के साथ जोड़ने के प्रति अधिक आग्रही हो उठे हैं। इसे हम आज के साहित्य के मूल मे निहित आदर्श और यथार्थ का द्वंद्व कह सकते हैं जिसने साहित्य के वस्तु या कथ्य और शिल्प मे तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धो मे एक गहरी खींचतान पैदा कर दी है।

फ्रेंच राज्य-क्रांति तथा उससे उभरे प्रजातांत्रिक मूल्यो ने शताब्दियो से प्रायः उपेक्षित सामान्य व्यक्ति का ओहदा बढाने मे भरपूर मदद की और परिणामतः अर्वाचीन युगों मे चिन्तन-स्वातन्त्र्य के नये द्वार खुले। जो कुछ प्रतिष्ठित है वह जैसे सहसा हिल उठा और नये सिरे से जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ साहित्य में भी व्यापक ऊहापोह हुआ। आत्मा और मन; सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक यथार्थ; तथ्य और कल्पना; ऐन्द्रिय व अतीन्द्रिय; शाश्वत और परिवर्तनशील; वस्तु या कथ्य और शैली व शिल्प या रीति—के सुदूर सीमान्तो के बीच विचरणशील नाना रंगतो की परस्पर गुंथी-उलझी साहित्यिक विचार-धाराओ का सूत्रपात और प्रचार हुआ जो बहुत कुछ भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान व दर्शन के क्षेत्र मे अनुदिन होने वाले ज्ञान (सूचना)-स्फोट से निर्दिष्ट या प्रेरित रहा।

एक ओर रस, सौंदर्य व कल्पना आदि को साहित्य का सार-तत्त्व समझा जा रहा है तो दूसरी ओर लोक-जीवन की अधिक मुखर आकांक्षाओं व प्रवृत्तियों के समावेश से साहित्य का पाट बहुत चौड़ा किया जा रहा है। एक ओर भाषा, छंद, अलंकार व रीति को स्थूल, ऊपरी, बाह्य तत्त्व कह देने की चाल है तो दूसरी ओर इन्हें आत्मा या सूक्ष्म चेतना से जोड़ कर उनके मर्म की गहरी थाह लेने के प्रयास हुए हैं और हो रहे हैं। एक ओर 'सम्प्रेषण' की कलाकारोचित पीड़ा को एक आध्यात्मिक लहजे में प्रस्तुत किया जा रहा है तो दूसरी ओर इस भंगिमा का उपहास भी किया जा रहा है। एक ओर रस के प्रति आग्रह है तो दूसरी ओर 'बिम्ब' उसका नवीन स्थानापन्न हो रहा है। एक ओर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के चिर प्रतिष्ठित मूल्य पर्याप्त म्लान पड़ रहे हैं तो दूसरी ओर अपने-अपने दल-गत या वैयक्तिक मूल्य भी तैयार हो रहे हैं।

इसे हम व्यापकता कहें अथवा मानव-चेतना की ऊर्जा या रंगीन जीवनी शक्ति का [illegible] ? हम समझते हैं कि संघर्ष व [illegible] के बीच नाना विरोधी विचार-धाराओं का प्रादुर्भाव मानव-चेतना की समृद्धि, स्फूर्ति व ताजगी का ही परिचायक है। जो द्वन्द्व [illegible] हो रहा है वह मानव-चेतना की गहरी स्पृहा है। वह जो कुछ रचता है, उसे [illegible] के साथ इस प्रकार जोड़ने की आवश्यकता है कि सर्वांगीण [illegible] (जिसे वस्तुतः मानव की समृद्ध चेतना का प्रमाण ही

होगा) व नवीन उपलब्धि एक रासायनिक प्रक्रिया द्वारा विचारों का वह गभीर व नवीन जीवन-द्रव उपस्थित करें जिसे हम भावी के हाथों हर्ष व गौरव के साथ सौंप सकें।

विरोधी अथवा अननुकूल जीवन-दृष्टियों के सम्मेल से उद्भूत अनेक साहित्य-दृष्टियाँ या दृष्टि-भंगिमाएँ आज हमारे सामने आ रही हैं, और सभवत आगे और भी अधिक आयेंगी। वे कारणवश हमें रुचिकर न भी लगें, किन्तु यह न मानने का भी कोई कारण नहीं कि वे दृष्टियाँ अपने स्रोतों में उसी निष्ठा व उच्चाशयता से जन्मी हैं जिससे कि सुप्रतिष्ठित विचार-दृष्टियाँ भी जन्मती हैं या विकसित होती आई हैं। हम यों क्यों न समझें कि काव्य या साहित्य के तत्वों, उपादानों या उपकरणों में से एक-एक को लेकर, उसे, अलग-अलग व्यक्ति-केन्द्रों या दलों या सम्प्रदायों में चिन्तन की पूर्णता तक पहुँचा कर, निखार प्रदान किया जा रहा है। अवश्य ही ऐसे प्रयत्न साहित्य के व्यापक सदर्भों की दृष्टि से एकांगी हैं, पर वे उन छोटे-छोटे पुर्जों के समान हैं जिनकी चरम सार्थकता अतत एक विशाल व्यवस्था (साहित्य) में सुनियोजित होने में ही है, या वे प्रयत्न सहायक नदी-नालों के ही समान हैं जो अन्ततः महानद (साहित्य) में लीन होकर उसे समृद्ध करने को ही बने हैं।

लगता है, हमें इसके लिए धैर्य, औदार्य, सहिष्णुता और शालीनता की गहरी आवश्यकता है। सूत्र या फॉर्मूला, नारे, फतवे, मताग्रह, आरोपण, बैमानी, मुखौटे, स्व-रति चश्मों से छनी दृष्टियाँ, महत्ता-ग्रंथि या हीनता-ग्रंथि से ग्रस्तता, सुख-सुविधामयी अति सरलीकरण की प्रक्रिया, साहित्यिक चौधराई और अभद्रता आदि से साहित्य का महान् तत्त्व पकड़ में नहीं आयेगा। हमें नाना साहित्य-दृष्टियों से आज परिचित होना है, उन्हें विवेकपूर्वक अपनी चेतना में आत्मसात् करना है और साहित्य की एक सुडौल व सुघरी प्राणवान् प्रतिमा उभारने में अपना योग-दान करना है।

चिन्तन-मनन की सभावनाओं के नये व विस्तृत क्षितिज आज खुल पड़े हैं। साथ-साथ चलें तो कैसा?

—सम्पादक

*सौन्दर्य्य की परिभाषा और स्वरूप

पाश्चात्य अवधारणा

—डॉ० नगेन्द्र

सौन्दर्य शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ में शब्द ब्यूटी का पर्याय है। ब्यूटी की एक व्युत्पत्ति इस प्रकार है बो (beau)+टी। बो का अर्थ है प्रिय अथवा रसिक या शृंगारी पुरुष और टी भाववाचक प्रत्यय है इस प्रकार ब्यूटी का शब्दार्थ हुआ रसिक का भाव रसिकता अथवा शृंगारी पुरुष का गुण। फ्रांसीसी भाषा में इसका समानार्थक शब्द है बैल्, लातीनी में पुलक्रुम, यूनानी भाषा में क्लोस और रूसी में क्रसोता। बैल् का अर्थ है सुन्दरी, पुलक्रुम प्रीतिकर का वाचक है और यूनानी भाषा का क्लोस भी सामान्यतः सुन्दर के ही निकट है। रूसी शब्द क्रसोटा (Krasota) का वाच्यार्थ है सुदर्शन अर्थात् देखने में सुन्दर, यद्यपि लक्षणा से यह व्यापक अर्थ का वाचक भी हो जाता है। इनमें से कुछ शब्दों में लालित्य तत्त्व का प्राधान्य है और कुछ में रूप या चाक्षुष सौन्दर्य का। क्लोस की अर्थ-परिधि अधिक व्यापक है—उसमें सद्गुण का भाव भी निहित है—इस प्रकार सौन्दर्य में रूपाकर्षण, लालित्य और व्यापक अर्थ में श्रेयस् तत्त्व का अन्तर्भाव मिलता है।

पाश्चात्य वाङ्मय में सौन्दर्य तत्त्व का व्याख्यान-विवेचन प्रारम्भ से ही होता आया है और यह परम्परा निरन्तर चल रही है। प्लेटो ने काफी विस्तार से अनेक ग्रन्थों में सौन्दर्य के विषय में विचार किया है। अपने एक ग्रन्थ 'हिप्पियस मेजर' के संवादों में वे सुकरात के माध्यम से विषय का विवेचन आरम्भ करते हैं। सुकरात सौन्दर्य के विषय में तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं (१) सौन्दर्य का अर्थ है उचित की सफलता, (२) सौन्दर्य श्रेयस् का पर्याय है, (३) सौन्दर्य का लक्षण है प्रीति (आह्लाद) जो नेत्र और श्रवण के माध्यम से प्रीतिकर हो वही सुन्दर है। ये तीनों धारणाएँ सीमित एवं सदोष हैं और सुकरात इन्हें स्वीकार नहीं करते। इनका खण्डन करने के बाद परिसंवाद के अन्त में प्लेटो ने सौन्दर्य का अत्यन्त मनोयोग के साथ,

* विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की [illegible] के [illegible] गुरुकुल [illegible] विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में १८ दिसम्बर, सन् १९७१ को दिया गया भाषण।

सशक्त शब्दावली में व्याख्यान किया है। प्लेटो के अनुसार सौन्दर्य सृष्टि का मूल तत्त्व है और इसका सन्धान करना ही तत्त्वद्रष्टा का परम लक्ष्य है। यह सत् का पर्याय है और श्रेयस् से अभिन्न है। सौन्दर्य और प्रेम एक ही तत्त्व के दो वास्तविक पक्ष है। सौन्दर्य की कई कोटियाँ और स्तर हैं। पहला स्तर है सार्वभौम भौतिक सौन्दर्य—सौन्दर्य की सत्ता व्यक्तिगत न होकर सार्वभौम होती है अर्थात् व्यक्ति का सौन्दर्य विश्व-सौन्दर्य का ही अंग होता है। दूसरा स्तर है चेतना का सौन्दर्य: सौन्दर्य केवल शरीर का ही गुण नहीं है—शरीर सौन्दर्य से ऊपर चेतना के सौन्दर्य की सत्ता है। इससे ऊपर है नियम और मर्यादा का सौन्दर्य अर्थात् नैतिक सौन्दर्य और सबसे ऊपर है ज्ञान-विज्ञान का सौन्दर्य। इस प्रकार सौन्दर्य के चार स्तर है: शारीरिक सौन्दर्य, मानसिक सौन्दर्य, नैतिक सौन्दर्य और शुद्ध बुद्धि का सौन्दर्य अथवा प्रज्ञात्मक सौन्दर्य। प्रज्ञात्मक सौन्दर्य ही निरपेक्ष और चरम सौन्दर्य है। सौन्दर्य का आधार है समन्विति अथवा सामञ्जस्य, जो विश्व-प्रपंच का मूल सिद्धान्त है। यह सामञ्जस्य ही औचित्य है जो समानुपात और सममात्रा पर निर्भर करता है। इस प्रज्ञात्मक सौन्दर्य को प्लेटो ने प्रकाश-रूप माना है, जो वस्तुत: आत्मचैतन्य का प्रतीक है।[1]

प्लेटो का उपर्युक्त मन्तव्य *आत्मवादी सौन्दर्य-चिंतन का प्रस्थान-बिंदु है।* इस वर्ग के दार्शनिकों में प्रमुख है प्राचीनों में—प्लोटिनस, और मसीही मत ऑगस्टीन तथा ऐक्विनस और आधुनिकों में कांट व हीगेल आदि। प्लोटिनस (Plotinus) के अनुसार जो हमारे अनुराग का विषय है, अन्तत: वही सुन्दर है। मानव-आत्मा अपने मूल उद्गम—उस परम तत्त्व-से-मिलने के लिए व्यग्र रहती है जो शिव और सुन्दर का आधार-स्रोत है। उस परम सुन्दर के साथ तादात्म्य की यही अभिलाषा सौन्दर्य-चेतना का रहस्य है। अर्थात् सौन्दर्य की भावना मूलत: एक आध्यात्मिक अनुभूति या रहस्यानुभूति है। मूर्ति अथवा वास्तु कला का सौन्दर्य उसके मूर्त आधार में न होकर कलाकार की चेतना में सक्रिय मूल विचार या भावना में ही रहता है। मसीही संतों ने इस रहस्य-भावना को और भी स्पष्ट कर दिया है। संत ऑगस्टीन और ऐक्विनस ने सौन्दर्य को ईश्वरीय तत्त्व माना है। उनका मत है कि ईश्वर शुद्ध और चरम सौन्दर्य का प्रतीक है। विश्व का सौन्दर्य उसी का आभास है; अत: सौन्दर्य मूलतः अपार्थिव ही होता है। रूप और आलोक उसके मूल तत्त्व है वह आलोकमय रूप अथवा रूपायित आलोक है और यह आलोक स्रष्टा के तेज का ही प्रतिरूप है जो सृष्टि के विधान में क्रम, अन्विति और अनुपात आदि गुणों का सन्निवेश करता है। इसी आधार पर ऑगस्टीन ने सौन्दर्य को रंग के आकर्षण से युक्त अंगों का समानुपात कहा है और ऐक्विनस ने उसके तीन तत्त्व माने हैं—अखण्डता, समानुपात और दीप्ति।[2]

आधुनिक युग में कांट और हीगेल ने प्राय: इन्हीं मूल सूत्रों का पल्लवन किया

1,2. गिल्बर्ट एंड कून . ए हिस्टरी ऑफ़ ऐस्थेटिक्स (द्वितीय संस्करण) पृ० ४५-५५ ; १२६-३०।

है—कांट ने नवीन तर्कशास्त्र के आलोक में और हीगेल ने विज्ञान के आधार पर। कांट ने सौन्दर्य के दो रूप माने हैं : (१) शुद्ध या निरपेक्ष सौन्दर्य और (२) सापेक्ष सौन्दर्य। शुद्ध सौन्दर्य रूपगत सामञ्जस्य पर निर्भर करता है : वह अपना प्रयोजन आप है—अर्थात् प्रमाता किसी उद्देश्य से उसका भावन अथवा आस्वादन नहीं करता। सापेक्ष सौन्दर्य के पीछे कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता है जीवन के प्रति उसकी सार्थकता में ही उसका मूल्य निहित है। अपने उत्कृष्ट रूप में वह प्रत्ययात्मक अथवा नैतिक होता है। अपने तत्त्व रूप में वह सत्य अथवा शिव का प्रतिरूप है। हीगेल ने इस विचार को और स्पष्ट करते हुए सौन्दर्य को दिव्य चेतना की गोचर अभिव्यक्ति या ऐन्द्रिय प्रतीति माना है। यह दिव्य चेतना परम सत्ता का ही प्रतिरूप है जो सम्पूर्ण सृष्टि की प्रेरक शक्ति है। इसी की गोचर अथवा ऐन्द्रिय रूप में प्रस्तुति कला है। कला में प्रकृति की अपेक्षा आत्मतत्त्व प्रधान होता है, अतः सौन्दर्य वस्तुतः कला का ही धर्म है। —प्रकृति सौन्दर्य का सोपान है परिणति नहीं है, अर्थात् उसमें सौन्दर्य का पूर्ण रूप नहीं मिलता। प्रमाता प्रकृति के दर्शन से सौन्दर्य की ओर अग्रसर होता है, परन्तु उसे सिद्ध नहीं कर पाता—सौन्दर्य की सिद्धि कला में ही है। प्राकृतिक रूपों में जो सामञ्जस्य अथवा उसके विभिन्न तत्त्व—अनुक्रम, अनुपात, सममिति आदि दृष्टिगत होते हैं, वे सौन्दर्य की ओर सकेत करते हैं. बाह्य पदार्थों का गोचर सामञ्जस्य आन्तरिक सामञ्जस्य अथवा भावनागत सामञ्जस्य का प्रतिबिम्ब मात्र है। आन्तरिक रूप या चित् रूप ही वास्तविक रूप है, वही सौन्दर्य है।

हीगेल की उक्त परिभाषा सौन्दर्य की आत्मवादी व्याख्या की परिणति है।

वस्तुवादी व्याख्या

विचारकों का एक अन्य वर्ग सौन्दर्य की वस्तुगत या रूपगत सत्ता का प्रतिपादन करता है। इसके अनुसार सौन्दर्य वस्तु का गुण है और वह रूप-आकार में निहित रहता है। आत्मवादी सौन्दर्यशास्त्र का ध्येय है सौन्दर्य अथवा कला के आध्यात्मिक अर्थ की व्याख्या। आत्मवादी के लिए सौन्दर्य परम सत्ता अथवा सृष्टिविधान की पारमार्थिक एकता या समन्विति का प्रतीक है। रूपवादी इसका निषेध करता है। १६वीं शती के पूर्वार्ध में हरबर्ट नामक (जर्मन ?) दार्शनिक ने दृढ़ता के साथ घोषणा की सौन्दर्य अपने अतिरिक्त किसी अपर तत्त्व का प्रतीक नहीं है—अपने रूप के अतिरिक्त उसका कोई अर्थ नहीं है[1]। वस्तु के रूप-आकार की रचना अनुक्रम, अनुपात, सममिति, समन्विति, वर्ण-योजना, दीप्ति आदि तत्त्वों से होती है—ये ही सौन्दर्य के तत्त्व हैं। इन तत्त्वों की सत्ता आत्मवादियों को भी मान्य रही है—प्लेटिनस ने तो स्पष्ट शब्दों में इनका उल्लेख किया ही है और कांट तथा हीगेल ने भी समन्विति को ही सौन्दर्य का आधार माना है। परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में भेद है आत्मवादी इनको पारमार्थिक सत्ता के प्रतीक मानता है, जबकि रूपवादी इन्हें पार्थिव एवं वस्तुनिष्ठ

१. गिल्बर्ट एंड कुन . ए हिस्टरी ऑफ ऐस्थेटिक्स, पृ० ३९१

मानता है—उसके मत में ये सौन्दर्य के आधार-तत्त्व हैं, सौन्दर्य के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ के प्रतीक नहीं हैं। इस प्रकार रूपवादी विचारक सौन्दर्य की सत्ता वस्तु की संरचना में ही मानते हैं और भाव तथा विचार से उसका कोई संबंध नहीं मानते—अर्थात् ये इस बात से इन्कार करते हैं कि भाव अथवा विचार के संस्पर्श से पदार्थ में सौन्दर्य का संचार होता है, क्योंकि इनके मत से सौन्दर्य पदार्थ है चेतना नहीं है। आधुनिक युग में साहित्य के क्षेत्र में भी, रूपवादी समीक्षा का मूल मन्त्र यही है काव्य (अथवा व्यापक रूप से कला) का सत्य अन्विति का सत्य है, मर्यादित या नहीं—यानी जीवन की रागात्मक अनुभूतियों और प्रेरक विचारों की अभिव्यक्ति में काव्य अथवा कला की सार्थकता या सौन्दर्य नहीं है, कलाकृति की अपनी संरचना या रूप-निर्मिति ही उसका सौन्दर्य है।

भाववादी व्याख्या

सौन्दर्य-चिंतकों का एक तीसरा वर्ग है जो काम अथवा इच्छा को सौन्दर्य का प्राण-तत्त्व मानता है। इनके मत से सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति है। एक ओर सौन्दर्य की व्यक्तिपरक व्याख्या करने के कारण अर्थात् उसे वस्तु के स्थान पर चेतना मानने के कारण ये आत्मवादी वर्ग के निकट है और दूसरी ओर लौकिक धरातल पर ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति के रूप में उसकी व्यवस्था करने के कारण ये यथार्थवादी विचारधारा से सम्बद्ध हैं। ये विचारक एक जैविक अभिवृत्ति अथवा रागात्मक अनुभूति के रूप में ही सौन्दर्य की सत्ता मानकर चलते हैं और इसी रूप में उसका विश्लेषण करते है। उन्नीसवीं शती के अन्त में जर्मन विद्वान् फैक्नर ने काट और हीगेल द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य के पारमार्थिक स्वरूप का खंडन किया और लौकिक अनुभूति के रूप में उसका निर्वचन कर मनोवैज्ञानिक अथवा प्रयोगात्मक सौन्दर्य शास्त्र की उद्भावना की। उन्होंने यह दावा किया कि सौन्दर्य ऊपर आसमान की अनुभूति न होकर पृथ्वी तल के जीवन की ही अनुभूति है और इसी स्तर पर उसका विवेचन किया जा सकता है। फैक्नर के अनुसार सौन्दर्य एक प्रकार की प्रीतिकर या सुखात्मक अनुभूति है और 'प्रत्येक ऐसी वस्तु जो केवल भावन करने पर या अपने अनुकूल परिणामों के कारण ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष रूप से और तत्काल प्रीति (सुख) का संचार करती है, सुन्दर मानी जा सकती है।[1]' सौन्दर्य का विस्तार से विवेचन करते हुए उन्होंने रूप-विषयक तीन सर्वोच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है: १. अनेकता में एकता का सम्बन्ध, २. सुसंगति, अन्वय अथवा सरलता या यथार्थता और ३. स्पष्टता। आगे चलकर सुन्दर का सम्बन्ध प्रिय—अथवा और सही शब्दों में अभीष्ट या अभिमत के साथ स्थापित हो गया।—जिसकी हम कामना करते हैं अथवा जो हमारी इच्छा की पूर्ति करता है, वही काम्य है, वही सुन्दर है। मनोविज्ञान के विकास के साथ कामना की पूर्ति का सम्बन्ध क्रमशः अन्त:वृत्तियों के परितोष के साथ

१. बोरसून १-१४-२, फिजियोलोजिकल ऐस्थेटिक्स डर ऐस्थेटिक्स (१८७७) पृष्ठ ३६

स्थापित हो गया। ग्रान्ट एलेन ने एक नवीन सूत्र दिया 'सुन्दर वह है जो हमारी अन्त.वृत्तियो को अधिक से अधिक उत्तेजित करे और जिनमे कम-से-कम श्रांति और क्षय का अनुभव हो।[1]' इसी के आधार पर रिचर्ड्स ने सौन्दर्य्य-मूल्य की परिकल्पना की। रिचर्ड्स के अनुसार जिस कृति मे जितनी अधिक और परस्पर भिन्न अन्त:वृत्तियो का जितना अधिक परितोष करने की क्षमता हो उतना ही उसका कलात्मक मूल्य है। इस प्रकार अन्त.वृत्तियो का सामञ्जस्य ही कला का मूल्य है। रिचर्ड्स ने सौन्दर्य्य की स्वतन्त्र कल्पना को कोई महत्त्व नही दिया—परन्तु प्रकारांतर से उनका यह कलात्मक मूल्य ही सौन्दर्य्य है।

मनोविश्लेषणशास्त्र के आचार्य फ्रायड ने सौन्दर्य्य का सीधा सम्बन्ध कामेच्छा या रति-भावना के साथ माना है। उनसे पहले डार्विन और उनके अनुयायी यह स्थापना कर चुके थे कि कामोपयोग के लिए उपयुक्त पात्र के चयन मे सौन्दर्य्य का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। —और सौन्दर्य्य की चेतना केवल मनुष्य मे ही नही होती . 'जब नर पक्षी मादा के सामने अपने पंख और सुन्दर रगो का प्रदर्शन करता है तो इसमे सन्देह के लिए अवकाश नही रह जाता कि मादा उसके सौन्दर्य्य पर मुग्ध होती है।[2]'

इस प्रकार मनोविज्ञान मनोविश्लेषणशास्त्र और जीवविज्ञान आदि के प्रभाव से प्राकृत जीवन की वृत्ति—राग अथवा काम की अभिव्यक्ति एव परितृप्ति के रूप मे सौन्दर्य्य को परिभाषित किया गया। साहित्य तथा कला के क्षेत्र मे यह मत पुराकाल से ही मान्य रहा है। आदि काल मे अरस्तू ने अपने विरेचन सिद्धान्त मे इसको मान्यता प्रदान की थी, लोंजाइनस ने भी भावोद्रेक को कला का प्राणतत्त्व माना है, स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का मूल आधार प्राणो का आवेश ही था, दार्शनिको मे स्पिनोज़ा, नीत्शे और शोपेनहोर ने और उधर मानवतावादी साहित्यकारो मे टॉलस्टाय आदि ने भी प्रबल शब्दो मे रागात्मक प्रभाव की महत्त्व-प्रतिष्ठा की है।

सौन्दर्य्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ ?

उपर्युक्त विवेचन के सदर्भ मे यह प्रश्न अनायास ही उठता है कि सौन्दर्य्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ अर्थात् सौन्दर्य्य वस्तु का गुण है अथवा द्रष्टा या भावक की प्रतीति। सामान्यत वस्तु के गुण होते हैं आकार-प्रकार की सरचना, रग, दीप्ति आदि। रूपवादी सौन्दर्य्य-चिंतको का मत है कि सरचना के इन तत्वों की समन्विति मे ही सौन्दर्य्य निहित है—सरचना के तत्वों की यह समन्विति ही उनके मन से सौन्दर्य्य है। इसके विपरीत आत्मवादियो का विचार है कि सौन्दर्य्य वास्तव मे चेतना या प्रतीति-रूप है, वस्तु-रूप नही है। सरचना की समन्विति उन्हे भी मान्य है,

---

१ दि रिसेन्ट ऑफ मैन—भाग १, परिच्छेद २।

* दी डिजाइर अफिम विकग इट इज सुर, बट इट इज सुर योनवी डिजाइर दो डिजाइर इट। (दि सेंस आफ ब्यूटी (१६६१) सेंटायना पृ० २५

परन्तु यह समन्विति विषयगत नहीं है भावनागत है, अर्थात् यह वस्तु नहीं प्रतीति है। आत्मवादी के विचार से वस्तु के तथाकथित सभी गुण—आकार-प्रकार, तौल, रंग, दीप्ति आदि भी वास्तव में भौतिक पदार्थ न होकर प्रतीतियाँ ही हैं : जड़ पदार्थ का अपना कोई रूप-गुण नहीं है, ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से उसमें रूप और गुण का आविर्भाव होता है—अर्थात् उसकी प्रतीतियाँ ही उसके रूप और गुण हैं। इस तर्क से सौन्दर्य-चेतना विशेष पदार्थों के सन्निकर्ष में चेतन मन की क्रिया अर्थात् प्रतीति है। भाववादी आध्यात्मिक तत्त्व को अस्वीकार कर देता है, वह यह नहीं मानता कि सौन्दर्य किसी दिव्य चेतना की अभिव्यक्ति या प्रतिबिम्ब है, परन्तु इसके स्थान पर वह यह मानता है कि हमारी इच्छा अथवा रागात्मिका प्रवृत्ति ही वस्तु में सौन्दर्य का सचार करती है – दूसरे शब्दों में, सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत न होकर भावनात्मक है, विषयगत न होकर विषयिगत है। आत्मवादी जहाँ सौन्दर्य को ऐन्द्रिय-आत्मिक अनुभूति मानता है, वहाँ भाववादी इसे ऐन्द्रिय-मानसिक प्रतीति मानता है। इनके अतिरिक्त एक समन्वयवादी दृष्टिकोण भी है जो सौन्दर्य को उभयनिष्ठ मानता है। इस मत के अनुसार सौन्दर्य पदार्थ का गुण है, किन्तु पदार्थ में इसका सन्निवेश प्रमाता की भावना द्वारा होता है, अर्थात् सौन्दर्य है तो पदार्थ का तत्त्व परन्तु वह भौतिक तत्त्व न होकर प्रतीयमान तत्त्व है। इसका बीज रूप काट में ही मिल जाता है—बाद में मेरिटेन, सैंटायना, केरिट आदि ने इसका पल्लवन किया है।

"सौन्दर्य की सृष्टि के लिए दो की आवश्यकता होती है : विषयी और विषय, किन्तु विषय और प्रमाता द्वारा उसकी प्रतीति एक दूसरे से पृथक् और शून्य में नहीं रहती, क्योंकि सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से पदार्थ का अर्थ है पदार्थ का वह रूप जो प्रमाता द्वारा भावित होता है — वह रूप जो उसकी भावना को प्रतिव्यक्त करता है।[1] "सौन्दर्य न तो पूर्णतः प्रमाता की चेतना में रहता है और न पदार्थ में। उसकी सत्ता वस्तुतः दोनों के सवाद में है। + + + सौन्दर्य का मूल तत्त्व है रूप[2] जो एक अमूर्त रेखाचित्र या अभिकल्प मात्र न होकर भावित पदार्थ के विषय में किसी विशेष सिद्धान्त (या भावना) की अभिव्यक्ति होती है। कला के क्षेत्र में रूप का अर्थ होता है मूर्त प्रतिरूपण, सादृश्य जो प्रमाता की ज्ञानेन्द्रियों तथा चेतना का एक-साथ अनुरंजन करता है। अतः कला का लक्ष्य है रमणीय अर्थ जो पदार्थ के गोचर तत्त्वों की अभिकल्पना और अन्विति में प्रकाशित हो उठता है। इस रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कलाकृति में तीन गुण होने चाहिए—स्पष्टता, सामञ्जस्य, और समानुपात[3]। इसी दृष्टि से सेण्टायना ने सौन्दर्य को एक ओर आत्मा और प्रकृति की समनुरूपता और दूसरी ओर विषयीकृत आह्लाद कहा है।[4]

---

१. ई॰ एफ॰ कैरिट . दि थियरी ऑफ ब्यूटी (१९६२)—पृ॰ १६२,
२. फ़ार्म
३. ए माडर्न बुक ऑफ ऐस्थेटिक्स (१९६५) पृ॰ २४ · मैरिटन के विचारों का सारांश।
४. दि सेंस ऑफ ब्यूटी (१८९६)

व्यवहार-दृष्टि से यदि हम उपर्युक्त समन्वयवादी मत को स्वीकार करलें, तो सौन्दर्य के सामान्यतः दो पक्ष माने जा सकते हैं : रूप और प्रतीति । ये सौन्दर्य के तत्त्व या अंग नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वों और अंगों की तो पृथक् सत्ता होती है, जबकि रूप और प्रतीति में केवल व्यवहार-दृष्टि से ही भेद माना जा सकता है, तत्त्व दृष्टि से नहीं—ये एक ही तथ्य के दो पक्ष हैं ।

सौन्दर्य की रूपाकृति

सौन्दर्य की रूपाकृति एक गोचर तथ्य है । वस्तु की सत्ता दो प्रकार की होती है भौतिक सत्ता और गोचर सत्ता । उदाहरण के लिए गुलाब के फूल की दो प्रकार की सत्ता है—एक उसकी भौतिक सत्ता, जिसका निर्माण विभिन्न रासायनिक तत्त्वों से हुआ है, जो वनस्पतिशास्त्र और रसायनशास्त्र का विषय है, और दूसरी दृष्टि-गोचर सत्ता जो उसकी पंखुड़ियों के आकार-प्रकार, परस्पर गुम्फन, रंग आदि का समन्वय है यह दृष्टिगोचर सत्ता ही उसका 'रूप' है । जैसाकि सौन्दर्य के रूपवादी विवेचन के संदर्भ में मैंने संकेत किया है, कला-समीक्षकों ने रूप के अनेक तत्त्वों का विश्लेषण किया है : आकार, अनुक्रम, अनुपात, सममिति, वैचित्र्य-वैविध्य, वर्ण, दीप्ति और इन सबकी मूलवर्ती अन्विति । ये तत्त्व सदा प्रत्यक्ष और सरल-स्पष्ट नहीं होते, अनेक संदर्भों में ये सूक्ष्म-जटिल होते हैं और कभी कभी तो इनका अस्तित्व प्रायः अव्यक्त-सा ही रहता है । अनुक्रम और सममिति आदि की स्थिति जहाँ प्रत्यक्ष होती है, वहाँ तत्काल ही दृग्गोचर हो जाती है और सामान्य जन भी उसे पहचान लेता है । अनेक बार वह इतनी जटिल होती है कि प्रशिक्षित व्यक्ति या रुचि-संस्कार से सम्पन्न प्रमाता ही उसका अनुभव कर सकता है । कहने का अभिप्राय यह है कि इन तत्त्वों की प्रकल्पना स्थूल और गणितीय नहीं है । समन्विति के विषय में यह और भी सत्य है वृत्त की समन्विति एक प्रकार की है और परवलय (पैराबोला) की दूसरे प्रकार की, इसी प्रकार ताजमहल की समन्विति और पिरामिड की समन्विति अथवा उद्यान और निविड कान्तार की अन्विति का स्वरूप एक-सा नहीं हो सकता । यही बात वर्ण दीप्ति के विषय में भी सत्य है, वहाँ भी आधारभूत तत्त्वों का समन्वय प्रायः अत्यंत सूक्ष्म-जटिल रीति से सम्पन्न होता है ।

सौन्दर्य-दृष्टि

सौन्दर्य का दूसरा पक्ष है उसकी प्रतीति यही वस्तुतः सौन्दर्य-दृष्टि है । सौन्दर्य-दृष्टि का अपना वैशिष्ट्य है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं । सौन्दर्य-दृष्टि एक प्रकार से व्यवहार-दृष्टि का विलोम रूप है । व्यवहार-दृष्टि में जहाँ हानि-लाभ की गणना और उपयोग की भावना मुख्य रहती है, वहाँ सौन्दर्य-दृष्टि में वस्तु का दर्शन और मानव मात्र ही प्रमुख होता है । व्यवहार-दृष्टि में परिणाम का मूल्य होता है, जबकि सौन्दर्य-दृष्टि में लक्ष्य रहता है सद्यः परनिर्वृति । उसका कोई ऐहिक प्रयोजन नहीं होता ।—यहाँ तक कि ज्ञान की उपलब्धि भी उसका ध्येय नहीं होती । सौन्दर्य-

दृष्टि सर्वथा निर्वैयक्तिक होती है : वैयक्तिक दृष्टि से प्रमाता जहाँ सुन्दर पदार्थ या कला-कृति को अपने संदर्भ में देखता है, वहाँ निर्वैयक्तिक दृष्टि पदार्थ के रूप पर ही केन्द्रित रहती है। वह स्व-पर की भावना से सर्वथा मुक्त होती है—न ममेति न परस्येति। इस दृष्टि से सौन्दर्य-भावना व्यक्तिबद्ध न होकर सार्वभौम होती है। सौन्दर्य-दृष्टि की एक अन्य विशेषता है तटस्थता। तटस्थता से अभिप्राय यह है कि प्रमाता विषय से लिप्त नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें विषय के प्रति अनुभूति जाग्रत नहीं होती; इसका अभिप्राय केवल यही है कि उसके प्रति राग-द्वेष का अनुभव नहीं करता. भाव्यमान विषय और उस के बीच में एक प्रकार का अंतराल बना रहता है, जिसे सौन्दर्यशास्त्र में मानसिक अन्तराल या कलात्मक अंतराल की संज्ञा दी गयी है। सौन्दर्य-दर्शन में प्रमाता की दृष्टि कला-कृति के अन्तः स्वरूप पर ही केन्द्रित रहती है, वह कृति के विभिन्न तत्त्वों के अन्तःसम्बन्धों का ही दर्शन करता है, बाह्य सम्बन्ध-विधान का नहीं। वह वस्तु के अंतरंग का प्रेक्षण तथा भावन करता है—उसे अपने संदर्भ में या कलाकार के संदर्भ में अथवा समाज के संदर्भ में नहीं देखता। इस प्रकार बाह्य संबंधों से मुक्ति सौन्दर्यानुभूति की अनिवार्य शर्त है। कृति के अंत.स्वरूप अथवा उसकी संरचना के आंतरिक सामञ्जस्य की यह प्रतीति सामान्य ऐन्द्रिय-मानसिक अनुभूति नहीं होती—उसमें कल्पना का विशेष योगदान रहता है। इसके अतिरिक्त, सौन्दर्य-दृष्टि हिताहित अथवा स्वार्थ की भावना से भी सर्वथा मुक्त, निष्काम होती है और इसी रूप में वह व्यवहार-दृष्टि से मूलतः भिन्न होती है।

संक्षेप में,

सौन्दर्य-दृष्टि व्यवहार-दृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है।

अर्थात् वह निष्प्रयोजन और निष्काम—हिताहित अथवा स्वार्थ की भावना से मुक्त होती है।

वह व्यक्ति-संसर्गों से असम्पृक्त और सार्वभौम होती है।

राग-द्वेष से निर्लिप्त अर्थात् तटस्थ होती है।

बाह्य सम्बन्ध-विधान से मुक्त, कला-कृति के अंत.स्वरूप पर केन्द्रित रहती है—अर्थात् कला को उसके अंतरंग रूप में ही देखती है, प्रमाता के अपने संदर्भ में, कलाकार के संदर्भ में या समाज के संदर्भ में नहीं देखती।

उसमें कल्पना का विशेष योग रहता है।

उसका लक्ष्य होता है सद्य परनिर्वृति परिणामी उपलब्धि नहीं।

उपर्युक्त लक्षण सौन्दर्यशास्त्र के अधिकांश मनीषियों को मान्य हैं। रूपवादी का तो पूरा बल इन पर ही रहता है, आत्मवादी भी इन्हें प्रायः स्वीकार करता आया है : वास्तव में इनमें से अधिकांश विशेषताओं का निर्वचन मूलतः कांट और हीगेल ने ही

किया है। आत्मवादी सौन्दर्य को भौतिक तथ्य न मानकर उसे परोक्ष सत्ता की गोचर अभिव्यक्ति अवश्य मानता है। पर कलाकृति के अन्त. स्वरूप के, जो देशकाल की सीमा से मुक्त-सार्वभौम होता है, निर्वैयक्तिक, निर्लिप्त एव निष्काम आस्वादन के प्रति उसका भी उतना ही आग्रह है। भाववादी इतना निर्लिप्त नही रह पाता, किन्तु चेतना की मुक्तावस्था ही उसका भी अतिम लक्ष्य है। बीज रूप मे इच्छा के साथ संबंध मानते हुए भी, कलात्मक परिणति की स्थिति मे, भाववादी सौन्दर्य को जिस भाव की अभिव्यक्ति मानता है वह *व्यक्तिगत रागद्वेष से असम्पृक्त, निर्युक्त भाव* ही होता है। अत: भाववादी को भी उक्त लक्षण अमान्य नही हैं। इनका विरोध अधिकतर दो दिशाओ से हुआ है एक तो नीतिवादी सौन्दर्यशास्त्र की ओर से और दूसरे समाजवादी सौन्दर्यशास्त्र की ओर से। नीतिवादी लोककल्याण को कला का ध्येय मानता है और सौन्दर्य को अन्तत शिव का पर्याय मानता है। उधर समाजवादी सामाजिक यथार्थ की चेतना को सौन्दर्य का आधार और जनहित को कला का ध्येय मानता है। किन्तु इनमे भी दो वर्ग हैं। एक वर्ग मे ऐसे लोग हैं जिनकी विचारधारा स्थूल नीतिशास्त्र या अनगढ समाजशास्त्र से प्रेरित है। ये कला का निश्चित और प्रत्यक्ष उद्देश्य मानकर चलते हैं, और सौन्दर्य-चेतना के उक्त लक्षणो का निषेध करते हैं। दूसरा वर्ग है सूक्ष्मचेता विचारकों का, जिनकी लोकमगल और जनहित की धारणा अधिक सस्कृत है ये लोग लोकमगल या जनहित को कला का प्रत्यक्ष फल नही मानते अर्थात् कला के साथ लोकमगल या जनहित का सीधा कारण-कार्य-संबध नही मानते। इन लोगो का विरोध उग्र नहीं है और एक सीमा तक ये उपर्युक्त लक्षणो के साथ समझौता कर लेते हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण के फलस्वरूप पाश्चात्य विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य की अवधारणा प्राय स्पष्ट हो जाती है। पाश्चात्य मत के अनुसार—

(१) सौन्दर्य पदार्थ नही, पदार्थ का गुण है।

(२) किन्तु वह भौतिक तत्त्व अथवा तत्त्वो का सघटन न होकर पदार्थ का प्रतीयमान या गोचर रूप है, जिसका आविर्भाव प्रमाता की चेतना के सन्निकर्ष से होता है।

(३) प्रत्येक पदार्थ का गोचर रूप सुन्दर नही होता। सौन्दर्य का आधार-सूत्र है सरचना की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष या सरल अथवा सूक्ष्म-जटिल अन्विति जो प्रमाता के ऐन्द्रिय-मानसिक सवेदनो मे सामञ्जस्य स्थापित कर उसकी चेतना का प्रसादन करती है।

(४) इस प्रकार प्रीति या आह्लाद सौन्दर्य का अनिवार्य लक्षण है।

(५) सरचना की अन्विति प्राय सूक्ष्म-जटिल होती है, अत उसकी प्रतीति

सामान्य ऐन्द्रिय प्रतीति न होकर सूक्ष्म-जटिल ऐन्द्रिय-मानसिक प्रतीति होती है जिसमें कल्पना का विशेष योगदान रहता है। इसलिए सौन्दर्य्य में कल्पना का तत्त्व अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

(६) सौन्दर्य की अवधारणा में यद्यपि ऐन्द्रिय तत्त्व की स्थिति अनिवार्य रूप से मानी गई है, परन्तु इन्द्रियों में केवल चक्षु और श्रोत्र का—और परिणामतः सौन्दर्य्य में उनके विषय रूप और शब्द का ही अंतर्भाव किया गया है। अन्य ज्ञानेन्द्रियों—रसना, घ्राण और त्वचा—को हीनतर इन्द्रियाँ माना गया है और उनके विषय रस, गंध और स्पर्श को सौन्दर्य्य की परिधि में समाविष्ट नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों ने अनेक तर्क दिये हैं जिनमें मुख्य यह है कि इनमें शरीर-तत्त्व प्रमुख रहता है तथा मनस्तत्त्व गौण और उधर कल्पना-तत्त्व का प्रायः अभाव रहता है।

(७) सौन्दर्य की परिधि में यों तो प्रकृति और कला दोनों का सौन्दर्य आ जाता है, परन्तु पारिभाषिक अर्थ में सौन्दर्य्य कला या उसके सौन्दर्य्य का ही वाचक है।

(८) कला का सामान्य अर्थ है भावना (अनुभूति+विचार) की गोचर अर्थात् मूर्त उपकरणों के माध्यम से अभिव्यक्ति। इस प्रकार भावना का सौन्दर्य्य के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। जैसाकि कैरिट ने अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टु ऐस्थेटिक्स' के परिशिष्ट में आरम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के कलाचिंतकों के उद्धरण देकर सिद्ध किया है, कला अथवा सौन्दर्य्य मुख्यतः भावना की ही अभिव्यक्ति का नाम है; भावना के स्पर्श से ही विचार समृद्ध बनता है, कल्पना सक्रिय होती है और भावना के स्पर्श से ही कला में प्रीति-तत्त्व का समावेश होता है जिसे मर्मज्ञों ने रमणीय अर्थ कहा है।

(९) अतः सौन्दर्य्य में ऐन्द्रिय तत्त्व के अतिरिक्त राग और प्रज्ञा का भी समावेश रहता है। सौन्दर्य्य का रूप निश्चय ही गोचर या ऐन्द्रिय होता है, किंतु इस गोचर रूप में आकर्षण तथा मूल्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व राग और प्रज्ञा ही हैं।

(१०) सौन्दर्य्य का सम्बन्ध आत्मवादी दार्शनिकों ने चित् शक्ति के साथ भी माना है। रहस्यात्मक या आध्यात्मिक अर्थ को छोड़कर सौन्दर्य्य को चिन्मय तत्त्व मानने में अधिकांश विचारकों को आपत्ति नहीं है।

खड़ी बोली का एक सूफी प्रेमाख्यान—कथा कामरूप

डा० श्याममनोहर पाण्डेय

कथा कामरूप सूफी परम्परा का एक प्रेमाख्यान है जिसकी रचना खड़ी बोली में १७५६ ई० में हुई। इसके रचयिता और कृति के सम्बन्ध में हिन्दी के इतिहास प्रायः मौन से रहे हैं। सूफी प्रेमाख्यानों के अध्ययनकर्ताओं ने भी इस कृति की ओर गंभीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा में इस कृति की एक प्रति है जिसका अवलोकन डा० सरला शुक्ल ने किया था पर उसके रचयिता के सम्बन्ध में वह केवल इतनी ही सूचना दे सकी हैं "इस ग्रन्थ के रचयिता एवं उसके जीवनचरित के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है। ग्रन्थ की पाण्डुलिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में देखने को मिली है"[1] नागरी प्रचारिणी सभा की पाण्डुलिपि से जो उन्होंने प्रारम्भ की पंक्तियाँ दी हैं उससे ज्ञात होता है कि नागरी प्रचारिणी सभा में प्राप्त प्रति तहसीनुद्दीन कृत कथा कामरूप की है जिसकी दो प्रतियाँ लंदन की इंडिया आफिस लाइब्रेरी में भी वर्तमान है। इस निबन्ध में इस कृति के रचयिता और उसकी दो प्रतियों का एक संक्षिप्त विवेचन अभीष्ट है और आशा है इस कृति के हिन्दी में सम्पादित होकर प्रकाश में आ जाने पर सूफी साहित्य के अध्ययन की शृंखला में एक महत्वपूर्ण कड़ी और जुड़ जाएगी।

कथा कामरूप का रचयिता

कथा कामरूप का फारसी लिपि में एक पाठ पेरिस से १८३५ में प्रकाशित हुआ था। इसके सम्पादनकर्ता गार्सां द तासी नामक फ्रेंच विद्वान थे। उनके निजी संग्रह में कथा कामरूप की दो प्रतियाँ थीं जिनके आधार पर उन्होंने अपना पाठ तैयार किया था। उनकी मृत्यु के बाद उन प्रतियों का क्या हुआ इसकी सूचना प्रस्तुत लेखक को नहीं मिल सकी है। इंडिया आफिस में जो प्रतियाँ प्राप्त हैं उनकी भिन्न पाठ परम्परा है गार्सां द तासी ने अपने पाठ के प्रकाशित होने के पूर्व अपने पाठ का एक फ्रेंच अनुवाद

१ शुक्ल, सरला, जायसी के परवर्ती हिंदी सूफी कवि और काव्य, लखनऊ १९५६

भी किया था जो पेरिस से १८३४ में प्रकाशित हुआ था। उसने
कहा है कि यह कृति १७२५ ई० (११३७ हि०) में पूर्ण हुई थी।

गार्सां द तासी से प्रकाशित पाठ पर यह सूचना दी गई है।

'किस्सा काम रूप व कला
कि जो
तहसीनुद्दीन ने
तसनीफ़ की
अब गार्सां दतासी का
तसहीह किया हुआ
शहर पारीज़ की
बादशाही छापे खाने में
छापा गया है
सन १८३५ ई०
मुताबिक १२५१ सन हिजरी के

कथा से सम्बद्ध काम रूप के कई फारसी काव्य भी मिलते हैं
में १०६६ हिजरी (१६५८ ई०) में मीर ईसा के लिए एक मसनवी फा
मीर ईसा को हिम्मत खाँ कहा जाता और उनका तखल्लुस मीरन
ने[4] स्वयं इस कथा को 'दस्तूरे हिम्मत' शीर्षक से गद्य में लिखा था।
गद्यानुवाद लाहौर के कुन्दन लाल ने किया।

इस कथा का एक दूसरा रूपांतर 'फनके आज़म' के नाम
११५७ हि० (१७४४ ई०) में किया था।[5] बदीउल अस्र का नाम
इसका एक अन्य फारसी रूप मुहम्मद काज़िम नाम के एक व्यक्ति ने
था। इस फारसी कृति का एक अंग्रेजी अनुवाद विलियम फ्रैंकलिन ने
रूप एण्ड काम लता' १७९३ ई० में किया था।[6]

---

१ M Garcin de Tassy—Les Adventures de Kamrup,
भूमिका, पृष्ठ ४

२. ब्लुम हार्ट, जेम्स फुलर, कैटलाग ऑफ हिन्दुस्तानी मैनुस्क्रिप्ट्स इन दी इंडिया
लंदन, १९२६, पृष्ठ ६६

३. वही पृष्ठ ६९

४. हिम्मत खाँ १०६६ हिजरी में मरा था। यही समय था जब 'मुहम्मद मुरा
पूर्ण किया था। गार्सां द तासी ने अपने हिन्दुस्तानी साहित्य के इतिहास
(मुराद कृत) का काल ११११ हिजरी दिया था जिसका रिऊ ने खण्डन किया है

इडिया आफिस के हिन्दुस्तानी पाडुलिपियो के कैटलाग मे यह भी सूचना दी गई है कि जान कैप्टन रिची के लिए मुन्शी अली रिजा ने एक गद्य रूपांतर हिन्दी या सभवत: हिन्दुस्तानी से किया था।[1]

उक्त सक्षिप्त विवेचन से यह अनुमान लगाना कठिन नही है कि 'कथा काम रूप' एक प्रसिद्ध कथा रही है और इसके हिन्दी मे रूपान्तरित होने के पूर्व फारसी मे काफी ख्याति मिल चुकी थी। तहसीनुद्दीन कृत कथा काम रूप की कहानी इस प्रकार है :

"अवधपुर मे महाराजपति नाम के राजा थे। उनके कोई सन्तान नही थी। इस कारण वह बहुत चिन्तित रहते थे। राजा का एक दीवान कर्मचन्द था। उसने बताया कि सदाव्रत तथा भंडारा करने से उसे सन्तान होगी। अत एक वर्ष तक भडारा चलता रहा। उसमे देशी और विदेशी सभी आते रहे। एक दरवेश भी आया। उसने एक श्रीफल दिया और राजा ने अपनी सुन्दर रूप रानी को वह फल खाने को दिया। फलस्वरूप रानी गर्भवती हुई और दसवें मास मे उसे पुत्र उत्पन्न हुआ। पंडितो ने उसका नाम काम रूप रखा और बताया कि वह बारह वर्ष की उम्र मे वियोगी होगा। राजा ने पूरी तैयारी की कि वह वियोगी न होने पावे। उसके लिए बहुत सी दाइयाँ रखी गई और सुख की सारी सामग्री जुटायी गई। बारह वर्ष तक कुवर ने पवन को नही देखा और न सूर्य की रश्मि देखी। उसके खेलने के लिए एक विशेष बाग बनाया गया। बाग मे एक मन्दिर भी था। बारह वर्ष की वह घडी आ पहुची जब पडित ने उसके वियोगी हो जाने की भविष्यवाणी की थी। एक दिन पिता के साथ कुवर बाग मे गया और वही रुक जाने का निश्चय कर लिया। उसके पिता ने बहुत प्रयास किया कि कुवर घर आ जाए पर वह सफल नही हो सके। बाग मे कुवर ने स्वप्न मे काम कला को देखा। उसी दिन काम कला ने भी कुवर को स्वप्न मे देखा। काम कला सरानपुर के राजा की पुत्री थी।

कुवर का स्वप्न इस प्रकार था। सरानदीप के एक बाग मे काम कला सहेलियो के साथ आयी है। वही कुंवर था। काम कला की सहेलियाँ बाग मे एक पुरुष को देख कर अचभित हुई। पर काम कला उस पर लट्टू हो गई। उसने कुंवर से पूछा, "तुम इस बाग मे कैसे आये।" तब कुवर ने अपना हाल बताया और परिचय दिया। सहेलियो ने जाकर काम कला की मा को सब खबर सुनाई। रानी ने कुवर को पकडवाने की आज्ञा दे दी। फिर सरान दीप मे यह भी हुक्म कर दिया गया कि उस बाग मे कोई पुरुष न आवे। सहेलियाँ कुवर को पकड लाई। कुवर वहाँ अकेला था। माता पिता कोई सग न था। वह आंसू बहा रहा था। काम कला ने जब उसे देखा वह मुरझा गयी। दोनों मे प्रगाढ प्रेम हो गया। इस स्वप्न के बाद कुवर की सुधि जाती रही विरह उसको सताने लगा। उसके पिता वहाँ आये और राज कुंवर की

1. वही पृष्ठ ६६

दशा देख कर प्रसन्न हुआ। इधर कलाकाम की विरह में जलने लगी। वह नित्य मंदिर में गई और पूजा करते उसने कहा, '[illegible] पूजा करती।' कलाकाम का एक पुरोहित था सुमत। जब उसको पता चला कि कलाकाम प्रेम में दुखी है तो उसने उसके प्रेमी के बारे में पूछा। कुमारी ने वह सब बता दिया जो स्वप्न में देखा था। यह सूचना लेकर वह राजकुमार को खोजने चला।

एक वर्ष व्यतीत हो गया किन्तु कुंवर का पता नहीं चल सका। चलते चलते वह चम्पापुर पहुंच गया जहाँ [illegible] रहा था। वहीं सुमत को राजकुमार मिल गया। उसे सुमत ने [illegible] और वहाँ की कुमारी कलाकाम के बारे में बताया। कुमारी कलाकाम का नाम सुनकर उसका प्रेम उमड़ पड़ा। उसने पिता से आज्ञा ली और साथियों सहित कलाकाम की खोज में पुरोहित के साथ चल पड़ा। उसके पिता ने यात्रा की सारी तैयारी कर दी कुंवर रास्ते में कलाकाम का नाम स्मरण करते हुए जा रहा था। रास्ते में एक [illegible] समुद्र पड़ा किन्तु कुंवर के हृदय में विरह का समुद्र था अतः वह जरा भी विचलित नहीं हुआ। समुद्र की यात्रा शुरू हुई और कामकला का मन्दिर दिखाई पड़ने लगा। उसी समय आंधी शुरू हुई और समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। जहाज टूट गया और राजकुमार के सभी साथी विपरीत दिशाओं में बह चले। राजकुमार के ८ मित्र तथा सुमत पुरोहित और राजकुमार एक तख्त पर बैठे हुए थे। लहरों के थपेड़े खाकर वह तख्त भी टूट गया और सभी मित्र अलग अलग हो गये।

लहरों ने कुंवर को एक तट पर ला दिया वहाँ कुंवर को चन्द्रमुखी परी मिली और उसको सात समुन्द्र पार ले गयी। वही परी का घर था। उस जगह न कोई हैवान था, न इन्सान। वहां सब 'राकस' भरे हुए थे। कुंवर वहाँ एक वर्ष तक रहा। परी के मंगेतर को यह सूचना मिल गई। एक दिन कुंवर जब घर में अकेला था एक परीजाद आया और एक थप्पड़ लगाते हुए उससे कहा—"तू यहाँ क्यों आया है।"

कुंवर को लेकर वह परीजाद एक राक्स को देने चला पर वह राक्स वहाँ नहीं मिला। फिर वह उसको पहाड़ी पर ले गया। एक ओर समुद्र था तो दूसरी ओर पर्वत पर राक्षस थे। परीजाद ने उसे समुद्र मे फेंक दिया। कुंवर समुद्र में अन्न पानी के बिना कुछ दिनों तक रहा। वह वहाँ कलाकाम का नाम बराबर जप रहा था। अंत मे सागर की लहरो ने उसे तट पर फेंक दिया। तट पर चारो ओर जंगल थे। कुंवर उन जंगलो मे भटकने लगा और तस्मापैरों[1] के मैदान मे पहुचा। वहां बहुत लोग कैद थे। एक तस्मापैर ने उसको अपने पैर मे पकड़ लिया और तमाचा लगाया। बाद में

---

१. तस्मापैर–एक प्रकार का राक्षस होता था जिसके पैर मे हड्डियां नहीं थीं किन्तु वह लोगों को अपने पैरो मे लपेट कर मार डालता था: 'मजनूं लैला' की कहानियों मे इसका उल्लेख आया है।

तस्मापैर ने उसे घोडा बना दिया और वह एक वर्ष तक उस रूप मे रहा। एक दिन तस्मापैर उसको लेकर एक कोह मे गया। उस कोह मे एक बाग था जहां विविध प्रकार के फल थे। कुंवर ने उनमे से कुछ अगूर लिये और उसका रस बनाया और सबको पिलाया। इससे वहा जितने लोग कैद थे मुक्त हो गये और उसके मित्र बन गये। सबने कुंवर की आज्ञा का पालन करने का वचन दिया। कुंवर ने सबको विदा किया किन्तु उसमे एक आदमी रह गया। वह कुंवर का एक मित्र मनर चद था जो बिछुड गया था। दोनो मित्र प्रेम से मिले और वहा एक साथ रहने लगे। उसी समय एक तोता आकर कुवर के हाथ पर बैठ गया। उस तोते के पाव मे एक डोरा था जब कुवर ने डोरा खोला तब तोता आदमी बन गया वह कुंवर का पडित मित्र सुमन निकला। तीनो मित्र जगल मे आगे बढे और उन्हे वही दरवेश मिला जिसके आशीर्वाद से कुवर उत्पन्न हुआ था। कुवर को दरवेश ने एक पारस पत्थर दिया। इस बीच कुवर के अन्य मित्र भी मिल गये।

कुवर बैरागी का वेश धारण कर मरान दीप पहुचा। सुमन पुरोहित कामकला के पास गये कामकला उनको पहचान गई। अपना दुपट्टा देकर उसने उन्हे कुवर के पास भेजा। वह तोता का रूप धारण कर वहा गया। उसके पैर मे कामकला ने एक धागा बाध दिया था। उस धागे के खोलने पर वह पुन आदमी हो सकता था। कुवर के पास पहुच कर उसने धागा खोल दिया तब वह आदमी के रूप मे हो गया। उसने कुवर को दुपट्टा भी दिया। उसे पाकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। राजकुमार फिर सभी साथियो के साथ राजकुमारी के महल के सामने आया। यह खबर सुनकर कुमारी ने गंगा जल मगाया और स्नान किया। अग मे चतुर लेप लगाया और कमर मे कमर बद बाधा। सारे अग को दर्पण सा बना लिया और हाथ मे मेहदी लगा ली। पान खाया और केश मे मुक्ता ग्रहण कर लिया। शृगार से पूर्ण होकर वह सखियो के साथ महल के बाहर निकली। उसके हाथ मे एक बहुमूल्य हार था। उसने वह हार कुवर के गले मे फेंक दिया। चारो ओर इसकी खबर फैल गई। चारो तरफ चर्चा होने लगी कि कुमारी अतीतो के जादू मे फस गयी है। कामकला के पिता महाराज ने उन अतीतो को सूली पर चढाने की आज्ञा दे दी और यह कहा कि सूली देते समय कामकला को भी दिखाया जाय। पर सरदार ने रक्त न बहाने का अनुरोध किया। तब राजा ने उन्हे अधेरे कुए मे ढकेल देने की आज्ञा दी और सबको उस अधेरे कुए म डाल दिया गया। राजकुमार के मित्र मनर चद के पास एक बाल था। उसको जलाते ही एक देव उपस्थित हुआ और सबको कुए से बाहर निकाला और मरान दीप से दूर पहुचा दिया। वहां जाकर कुवर ने जोगी का वेश बदल लिया और पारस पत्थर निकाला और उसकी सहायता से पत्थर को धन मे बदलने लगा। उसने राजसी वेश बनाया और काफी सेना जुटाकर फिर मरान दीप चला। महाराज को जब सब कुछ मालूम हुआ तो उन्होने कामकला का कुवर से विवाह कर देने का निश्चय किया।

पडितो ने शकुन विचारा और दोनो का विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के बाद

महाराज ने कुंवर और कामलता को विदा किया। कुंवर कामलता और अपने मित्रों साथ घर वापस आया। कहानी इस प्रकार समाप्त होती है।

नगर मे जब आया कुंवर का कदम
अवधपुर फिरे होके बाग़ी अरम
कुवर की खुशी सब नगर ने किया
नगर के मंदिर दर मंदिर ने किया
गये यार सब अपने अपने मुकाम
मिले बाप माँ से जगौक तमाम
बहुत जर कुंवर ने उन्हों को दिया
नगर बीच हर एक के निस्वत किया
कुवर यार मिल बैठ खुशियां किये
दिनो दिन हुआ सुख गयी बिथा
कुंवर कामरू की गयी यह बिथा।

लंदन में कथा कामरूप की दो प्रतियाँ

लंदन मे इण्डिया आफिस मे कथा काम रूप की दो प्रतिया हैं। 'कैटलाग अ हिन्दुस्तानी मैनुस्क्रिप्ट्स इन दी लाइब्रेरी आफ दी इण्डिया आफिस' मे क्रमश: १ और १२७ पर इन दो प्रतियो का उल्लेख किया गया है। इण्डिया आफिस मे प्रतियों की क्रम संख्या क्रमश: सी १२४३ बी और पी ३१२६ बी है।

(१) पी १२४३ बी यह प्रति १८वी शताब्दी की है और फारसी की नस्तलं लिपि मे लिखी गयी है। इसके ५४ फोलियो है। पत्रो की लम्बाई चौड़ाई ८½×
है। यह प्रति पूर्ण है और इसका प्रारंभिक अंश इस प्रकार है :—

अलही दो जग का तू करतार है
हर एक शै का पैदा करनहार है
न कोई कर सके तेरी कुदरत बयां
नही इल्म तेरा किसी पर अया

इसका अंत इस प्रकार है :—

यह रिश्ता बिरह का नाजुक तरह
न कुछ गत है इसमे न इसी गिरह
बिरह का गिरह पड़के ना फिर खुले
न टूटा बिरह का कभी फिर मिले
कुंवर की तरह जिसने मिहनत किया

(२) पी ३१२६ की यह प्रति पूर्ण नहीं है। इसमे ३८ फोलियो हैं। आकार ार ६३/४×६१/४" है। यह तीन हाशियों में लिखी गई है। लिपि फारसी शिकस्ता और ातीक मिश्रित है। और इसे पढ़ने में बहुत कठिनाई होती है। प्रति ११९३ हिजरी ७७९ ई०) की है। इसका प्रतिलिपिकार शेख नईमुद्दीन बिन शेख मुहम्मद लिह का लड़का अमीनुल्लाह है। इस प्रति का प्रारंभिक अंश खंडित है अर्थात् इसका म पत्रक उपलब्ध नही है। पुष्पिका से ज्ञात होता है कि प्रतिलिपिकार मद्रास का था।

प्रति का अंतिम अंश इस प्रकार है :—

> बहुत अद्ल इसाफ करके कुवर
> सभी पावें इनाम रहा दर मंदिर
> कुवर ने किया जश्न नौ रोज़ का
> नगर का उजाला हुआ हाल का
> हुवा क़िस्सा आखिर दीगर क्या कहू
> यही है भला अबको चुप कर रहू
> जो इसनामा पढ़ेगा सदा
> मुसन्निफ पै दुवा करेगा सदा

प्रस्तुत लेखक ने जब गर्सिन द तासी के प्रकाशित पाठ से प्रतियों की तुलना ारंभ की तो यह ज्ञात हुआ कि गर्सिन द तासी के पाठ मे काफी संशोधन की गुंजाइश है। ौर यह भी पता चलता है कि उनका पाठ विशद परम्परा का पाठ है जिसमें संक्षेप वाभाविक रूप से आ गये हैं। इस काव्य के एक आलोचनात्मक संस्करण की ावश्यकता बनी हुई है। गर्सिन द तासी का पाठ अब उपलब्ध भी नही है इसीलिए स्तुत लेखक ने उसके सम्पादन का कार्य हाथ मे लिया है। हिन्दी सूफी साहित्य के नुसंधानकर्ताओं की सुविधा के लिए गर्सिन द तासी के प्रारंभिक अंशो का ागरी में पाठ दिया जा रहा है और इण्डिया आफिस मे प्राप्त प्रतियों के साथ तुलना रके पाठांतर भी दिये जा रहे है। आशा है इससे स्पष्ट हो सकेगा कि इसकी भाषा खड़ी बोली हिन्दी है और इसके प्रकाशन से प्रेमाख्यानों के अध्ययन की दिशा मे और ागति हो सकेगी।

विस्मिल्ला अल रहमान अल रहीम

आलही यहक तू करतार है[1], दो आलम का पैदा करनहार है[2]। (१)
न कोई करे तेरी कुदरत बयान, नही इलम तेरा किसी पर अया। (२)
दो जग मे सकल काम[1] तेरा अपार[2] अचम्भा दिसा जग मे तेरा भंडार। (३)
भंडारे से तेरे जिए जीव जन्तु[1], न पाया है तेरे भंडारे का अन्त[2]। (४)
सकल[1] जीव जन डर मे तेरे[2] कंपें तेरे इश्क से[3] नाम तेरा जपें। (५)
तूने[1] इश्क से[2] सबको पैदा किया, तेरे इश्क ने सबको शैदा किया। (६)
यही इश्क यूसुफ मे जलवा लिया, जुलेखा को बुर्के से[1] बाहर किया। (७)
उठा शाह महमूद व अज्र व ताज, हुआ इश्क से[1] सह गुलाम आयाज। (८)
यही[1] इश्क खुसरो व फरहाद में, तजा जान शीरी की बेदाद में। (९)
यही इश्क मजनू मे था अज अजल, बहाने से लैला के देखा जंगल। (१०)
इसी इश्क ने नल को जोगी किया दमने के दरस का वियोगी किया। (११)
मनोहर इसी इश्क से[1] दर बदर, पड़ी[2] जब सो[3] मधुमालत ऊपर नजर। (१२)
इसी इश्क की राह मे जो चले, संघाती न अपना बेगाना मिले। (१३)

---

(१) (१) इलही दो जग का तू करतार है (२) हर यक शै का पैदा करनहार है।
(३) (१) कार
(४) (१) ढूंढे सभी मिल जीव जो जन्तु (२) न तेरे भंडारे का पायें अंत।
(५) (१) सकल (२) तेरा (३) सों।
(६) (१) तूंही (२) सो।
(७) (१) सों
(८) (१) सों
(९) (१) एही
(१०) (१) सें
(१२) (१) सों (२) पड़ा (३) सरे।
(१३) य० पकिन इंडिया आफिस नी १२४१ वी मे प्रति मे (पूर्ण प्रति)

इश्क जिस घर मे[1] आकर बसा, उसे देखकर यह जगत सब[2] हसा। (१४)
किन वही सबमे[1] सरताज है, दो जग मे जिसे इश्क का[2] राज है। (१५)
तीन हैं इश्क का सुन बयां, जो आशिक है उस पर हुआ यह अयां[1]। (१६)
ल ऐन हैगा अक्ल को पकड़,[1] दो जल गुनसो दिलबर को बाधी जकड। (१७)
शीन खोये शरम लाजपत, रखे जग मे पूरी[1] वियोगी के घट। (१८)
स काफ हैगा न देवे करार, बकत शरम सब खो करे बेकरार[1]। (१९)
इश्क की नित उबलती रही, अगिन इश्क की तन मे[1] जलती रही[2]। (२०)
हैं अगिन इश्क मे हर कुदाम, कच्चे दिल कतई इश्क रखना है खाम। (२१)
न के समन्दर मे आजो चली, तब इस यार से इश्क की बो मिली। (२२)
तब गुलशने इश्क मे है बहार, मुबतर ही इसमे नसीम तमार। (२३)
ी इश्क मे रग सूरत नही, असल बुई इसमे कुदरत नही। (२४)
हूं को हुआ हरस गाही जुकाम, वह महरूम है इसकी बुई मुदाम। (२५)
ी इश्क है, इश्क है, इश्क है, जिसे इश्क है नाफे-मुश्क है। (२६)
गर मुश्क नाफे मे[1] है काम है, बना मुश्क नाफा यही जाम है। (२७)
हम्मद हुआ[1] मुश्क-नाफा गुनाफ हजूर उसके वासिल हुआ सब गुजाफ। (२८)
दा ने किया उसको सरदार सब हमा इनबया पर वही है अजब। (२९)
ायत मे उसकी जमी आसमा हुआ दीन दुनिया दिगर ला मकान। (३०)
रहगार उमर शफी अलवारा, वही हैगा मालिक बगोज जुजा। (३१)
ारयार असहाब उसकी चहार, अबूबक अगमान है नामदार। (३२)
मर वो अली शेर है ला कलाम, सभी साहबा पर हमारा सलाम। (३३)

---

(१४) (१) मो (२) जग बहुत।
(१५) (१) मो (२) को।
(१६) (१) किया असर जिस पर हुआ यह असा।
(१८) (१) बावरी।
(१९) (१) मदन को फिराके द्वारे द्वार।
(२०) (१) इंडिया आफिस (खंडित प्रति) मे ये पंक्तियां इस प्रकार हैं
अगन इश्क की तन मों [illegible] रही, नदी इश्क की नित उबलता रही।
यहीं से इंडिया आफिस की दूसरी प्रति पी १९२६, की भी प्रारम्भ हो जाती है इसके पूर्व यह खंडित है।
पी ११२६ की मे यह छन्द इसी प्रकार है जैसा [illegible] ने दिया है। केवल [illegible] "मैं बलती" के स्थान पर उसमें 'का' [illegible] है। इस प्रति का प्रतिलिपि [illegible] है। शेख [illegible] बिन शेख मुहम्मद [illegible] उसका लिपि है। इसकी प्रतिलिपि सन् १०३९ (११९१ हि०) है।
इंडिया आफिस पूर्ण प्रति एवं खंडित प्रति के छंद (२३), (२१), (२४) (२५) नहीं हैं
(२७) यह पंक्ति पूर्ण प्रति के (२८) छंद के बाद है।
खंडित प्रति का क्रम यही है के बाद है।
(२८) (१) खंडित प्र० मन्सूर को।
(२९) पी० प्र० के छंद २९, ३०, ३१, ३२, ३३ नहीं हैं और पूर्ण प्रति मे [illegible] हैं।

सुनो अब कथा इश्क के नाम की, कुंवर कामरूप और कलाकाम की। (३४)
अवधपुर गोरख मे[1] था राजपति, अथा[2] नाम उसका महाराज पति[3]। (३५)
मुल्कमाल अमवाल था बेशुमार, महल हाय रंगीन[1] व[2] जरी निगार। (३६)
जो है परथमी मे मो सब उसको[1] था, मगर एक फर्जन्द उसको न था। (३७)
रहे राजपति नित उसी फिक्र से[1], कि देवे खुदा यक फर्जन्द उसे[2]। (३८)
महाराजपति[1] सोच[2] मे नित रहे[3] न अपना मरम यह किसी से[4] कहे। (३९)
छ उसके मुसाहिब रहे[1] बा[2] हुनर, महाराज के पास बा यक दिगर[3]। (४०)
अवल था करमचंद नाम[1] वजीर, बहुत[2] बा[3] हुनर हम व अक्ल व दबीर। (४१)
मिश्र दूसरा था कवल रूप नाम, महाराज के पास रहना मुदाम। (४२)
अथा[1] तीसरा पंडित[2] ज्ञानवत, आचारज कहे नाम उसका अनन्त। (४३)
चहारम यकी जौहरी बा[1] हुनर, कि दरहर जवाहर मे[2] रखता नजर[3]। (४४)
मुसाहब चितेरा रहे पाचवा, करे चित्रकारी बहुत बेगुमान। (४५)
कलवित छठा नाम रसरंग था, कि हरदम महाराज के संग था। (४६)
सब अपनी हुनर[1] मे बहुत बेबहा, महाराज को था अदर का सभा[2]। (४७)
महाराज उन सबसे दिलबन्द[1] था न उनके न राजा के फरजंद था[2]। (४८)
छवो राजपति की करे बदगी, व लेकिन फिकर सबको फरजंद की। (४९)

---

(३४) (१) पूर्ण प्रति० अर

(३५) (१) खण्डित प्रति, मों, (२) पूर्णप्रति कहे। (३) कहे नाम उसका महाराज पति।

(३६) (१) पू० प्र० जरी। (२) ख० प्र० मे 'व' नही है।

(३७) (१) पू० प्र०—'उसका', ख० प्र०—'उसके'।

(३८) (१) पू० प्र० मे। ख० प्र० हुई राजपति नित फिक्र उसे।
(२) पूर्ण प्रति 'हुमे'

(३९) (१) पू० प्र० हम (२) पू० प्र० फिक्र। (३) ख० प्र० महाराज थी फिक्र मों नित रहे। (४) पू० प्र०—सॅ ख० प्र०—सॅ।

(४०) (१) ख० प्र०—'छवों'। पू० प्र०—'छवों', (२) पू. प्र.—बर।
(३) ख. प्र. रहें नित महाराज जी के मंदिर
पू. प्र.—रहें नित महाराज जीव के मंदिर,

(४१) (१) पू. प्र. नामी (२) पू. प्र. बसे (३) ख. प्रति व पूर्ण प्रति बहु

(४३) (१) पू. प्र.—शोभा, ख. प्र. अथा (२) ख. प्र.—पंडित व।

(४४) (१) पू. प्र. व ख. प्र.—बर (२) ख प्र. मो।

(४५) (१) पू. प्र.—मुसाहब चित्रकार है पाँचवां।

([illegible]) (१) पू. प्र. [illegible] (२) पू. प्र.—महाराज उन सबकी [illegible] था।

([illegible]) (१) पू. प्र.—महाराज अदर [illegible] [illegible], (२) ख. प्र.—[illegible]।

इसी सोच मे राजा नित एक दिन, कहा सब मुसाहिब से अपना वचन[1]। (५०)
करो देखा न जिस घर मे बाल नही, अधेरा है वह घर उजाला नही। (५१)
अगर वंस है मुल्क और राज है, बिना वंस सब काज अकाज है। (५२)
यही वस जिसकी करम मे वदा, उन्हो का जनम सुख मे बीती सदा। (५३)
तजो यह मुल्क माल और राज सब, करो तुम इसारा जफा काज सब। (५४)
यह मेरी बचन तुम सुनो बात धर[1], लिबास गदाई करू सरबसर। (५५)
करो राज तुम मैं करू यह जतन बैरागी[1] बनन का[2] करू अपना[3] तन। (५६)
लगाकर भभूत और वडा करके केस[1], गले डाल कठा प्रतीती के भेस[2]। (५७)
महल से[1] निकल हाथ खप्पर[2] करू, नगर देस परदेस फिरता रहू[3]। (५८)
जगत मो[1] फिरू ज्यो फिरे बेनवा, मगर एक फर्जंद देवे खुदा। (५९)
धरू सीस उनके चरन के तले, अगर वहा मुझे बस बाबा मिले। (६०)
महाराज पत का सुना यह ध्यान न इसमे चले कुच किसी का ज्ञान। (६१)
हुए सोच मे सब, न कुछ कर सके, न बोले कि इस राज को हम रखे। (६२)
करमचद उन सब मे दीवाना था, बहर इल्म व तदबीर पर ज्ञान था। (६३)
महाराज से जब सुना यह बचन[1] अदब से[2] कहा सुन महाराज मन। (६४)

---

(५०) (१) पूर्व प्र. इसी गम से राजा विक्रमद था बुला कर करम चद कूं यह कहा।
ब. प्र इसी गम मे राजा विक्रमद था, बुलाकर करम चद सों यूं कहा।
इसके बाद ब प्र. मे निम्न लिखित पक्तियां हैं
कहा बरहमन सो महाराज हू मगर बिन फरजद मुहताज हू।
पू. प्र मे यह अशार इस प्रकार है
कहा पृथमी पर महाराज हू मगर बिन फर्जंद मुहताज हू।
उपर्युक्त पक्तियां प्रकाशित पाठ मे नही
(५१), (५२), (५३), (५४) पाठित प्र म नही है।
(५५) (१) पू. प्र. यही मसलहत तुम सुनो बातधर लबास गदाई करूं सरबसर।
ब प्र करमचंद तुम अब सुनो कान धर लबास गदाई करूं सरबसर।
(५६) (१) ब प्र. [illegible]। (२) पू प्र . . मब (३) ब. प्र व पू. प्र. [illegible]
(५७) (१) पू. प्र. . बड़ा रोम केश। ब प्र बड़ा सर मे केस। (२) पू. प्र. ... भेष।
(५८) (१) पू प्र व ब प्र में। (२) पू प्र. .. थैरा।
(३) पू. प्र.... नगर देस परदेस करता फिरू। ब प्र.. नगर दर नगर देस फिरता फिरू।
(५९) (१) पू प्र . मे।
छन्द (६०), (६१), (६२) व (६३) दोनो प्रतियो में नहीं है।
(६४) (१) पू प्र.......करमचद दीवान सुनके बचन। ब. प्र ......करमचन्द दीवान सुन यह बचन।
(२) पू प्र. से। ब. प्र... .. को
छन्द (६४) के बाद पू. प्र और ब. प्र. मे यह छन्द है
कहो राज तुम है कब यह फिकर, महाराज बाहंद बनेंगे अमर।

विधाता ने राजा किया है तुम्हे, मुल्क माल व जर सब दिया है तुम्हे। (६५)
इसी राज ऊपर करो तुम जतन, गरीबों से मांगो दुआ के बचन। (६६)
सदाव्रत करके भंडारा करो[1] अंधेरे घरो को[2] उजाला करो[3]। (६७)
बुलाकर दियो[1] सबको वस्त्र बरन, जो आवें तो उन सबसे बोलो बचन[2]। (६८)
धरम दानपुन से करो सबको याद, उन्ही की दुआ से मिले यह मुराद। (६९)
कहो तब भंडारे में अगर रहो, महाराज फर्जन्द पावे[1] कहो। (७०)
सभी[1] जन्तु जोगी करें सब जिकर, महाराज फर्जन्द पावें मगर[2]। (७१)
करम चन्द ने जब सुना यह वचन,[1] कहा जाके उसका करो कुछ जतन। (७२)
विदा हो करम चद बाहर निकल, कहा जा नगर में बनाऊं महल। (७३)
इमारत के मामार सबको बुला, करमचद दीवान ने यह कहा। (७४)
गुल्ल व खस्त का सब सरअंजाम कर, करो जाके तय्यार भंडार घर। (७५)
जखीरा करो इसमें अबार का, रखो इसमें सब जिन्स भन्डार का। (७६)
सर अजाम इसमें रखो सब तमाम, सदाव्रत इसमें करो सुबह औ शाम। (७७)
करम चद ने जब[1] भंडार किया, नगर में[2] सदाव्रत सारा किया (७८)
गरीब व[1] विदेशी मुसाफिर तमाम, सदाव्रत में[2] सब[3] रहे सुबह औ शाम। (७९)
रहे मिन्न के सब रैन दिन[1] यह सदा महाराज फर्जन्द पावें खुदा। (८०)
भंडारा रहा[1] साल भर के[2] मुदाम, बहर जिन्स दुनिया की बशद तमाम[3]। (८१)
करम चंद का नित[1] यही[2] मुद्दआ, कहें सब गरीबों को मागो दुआ। (८२)

---

(६५) यह छंद दोनों प्रतियों में नहीं।
(६६) यह छंद दोनों प्रतियों में नहीं।
(६७) (१) पू. प्र. व ष. प्र. . . ...भरो। (२) पू. प्र. में (३) पू. प्र. व ष. प्र. करो।
(६८) (१) पू. प्र. व ष. प्र. देई ? दियो (?)
(२) पू. प्र. . . .. जो आवें यहाँ सबसे बोलो बचन।
ष. प्र.......जो आवें यहाँ सब कहे यह बचन।
(६९) यह दोनों प्रतियों में नहीं।
(७०) (१) ष. प्र.......'पावें'।
(७१) (१) पू. प्र. . . 'सुने'। (२) पू. प्र. . . . अगर। ष. प्र. में ये पंक्तियाँ नहीं हैं।
(७२) (१) पू. प्र.. ..करम चन्द ने यह महाराज सुन।
ष. प्र. में भी यही पाठ है।
छन्द ७३, ७४, ७५, ७६ और ७७ दोनों प्रतियों में नहीं हैं।
(७८) (१) पू. प्र. व ष. प्र.......'जो'। (२) ष. प्र. [illegible]।
(७९) (१) ष. प्र. और। (२) ष. प्र. में (३) पू. प्र. व ष. प्र.......'सब'
(८०) (१) पू. प्र.......[illegible]।
(८१) (१) ष. प्र. [illegible]। (२) पू. प्र.......[illegible]। (३) पू. प्र. [illegible] दुनिया [illegible]
(८२) (१) ष. प्र. [illegible]। (२) पू. प्र. [illegible]। (३) पू. प्र. व ष. प्र. [illegible]।

अथा[1] एक दरवेश धर्मी निवास, यकायक वह आया करम चंद पास। (८३)
करमचंद ने इसको ताजीम कर, बिठाया[1] बहुरमत से[2] तसलीम[3] कर। (८४)
बेताजीम हुरमत से आकर बिठा[1], तब उसे करमचंद ने यह कहा। (८५)
कहा राजपत को यही है फिकर महाराज फर्जन्द पावे मगर[1]। (८६)
महाराज पर कुछ करो तुम दया करो बस बाबा से उस पर मया। (८७)
मया करके दरवेश इस[1] बात मे श्री फल[2] जगल लिया हाथ मे। (८८)
दिया तब करमचद दीवान को[1] कि देवे[2] महाराज पर ज्ञान को। (८९)
कहा जा श्रीफल खिलाओ उसे[1] जो रानी महाराज के मन बसे। (९०)
रखे जग में जो बेहना को परा यकीनी है कि पावे मुराद अज खुदा। (९१)
खुशी हो करम चन्द ने फल लिया महाराज के हाथ जाकर दिया। (९२)
सुना था बचन वहां[1] जो दीवान ने कहा सब महाराज के साम्हने[2]। (९३)
महाराज सब[1] सुनके फल हाथ कर खुशी हो चला ते महल के भितर। (९४)
जपा नाम करता[1] रखा मन में आस गया तेरे रानी सुन्दर रूप पास। (९५)
सुन्दर रूप रानी थी सुन्दर वदन मिला था महाराज के मन से[1] मन। (९६)
महाराज ने फल इसे जो दिया, सुन्दर रूप रानी ने वह फल लिया। (९७)
सो फल लेके रानी ने अस्नान कर, रखा व्रत अवलाद का ध्यान कर। (९८)

---

८३) (१) प. प्र ऊथा, ख. प्र 'वह'।

(८४) (१) प. प्र बुलाया बहुर मत सों नजदीक कर। ख प्र' बुलाया बहुर मत में नजदीककर।

(८५) (१) प. पु व ख प्र. . वह दरवेश आकर खड़ा हो गया। (२) प. प्र 'उससे'। ख प्र. 'उसस'।

(८६) (१) प. प्र "कहा राजपूत को न फर्जंद है, महाराज उससे फिकरमन्द है।'
[खंडित प्रति का पाठ बाकी के पाठ से भिन्न व सुगम है]

(८७) पु प और ख प्र मे यह पंक्ति नहीं।

(८८) (१) प. प्र . उस (२) ख प्र. अदन का श्रीफल।

(८९) (१) पु प्र को। (२) प. प्र. आवे ख. प्र २४ (३) प. प्र को।

(९०) (१) दोनो प्रतियो मे प्रथम पंक्ति नहीं। इसके स्थान पर
प. प्र...... यह लेकर श्रीफल खिलाओ उस, ख. प्र. यह लेकर श्रीफल खिलाते उसे।

९१) ये पंक्तियां दोनो प्रतियो मे नहीं।

(९३) (१) प. प्र वह। (२) प. प्र सामने

(९४) (१) प. प्र. तब।

(९५) (१) पूर्ण और खंडित प्रतियो मे अन्तर जो पाठ उपलब्ध है वह कुछ प्रतीत होता है। यह दोनो मे पाठ शुद्ध का है।

(९६) (१) प. प्र. से, ख प्र ...... सो।

(९७) (२) प. प्र. इस को था, ख. प्र उसको

(९८) (९९) व (१००) में अन्तर नहीं

मेदेला लगा हरतरफ वाजने, सुघड पातरीन² सब लगीं नाचने। (११४)
भगत्या तवायफ फिरी हर तरफ[1], वजी हर तरफ ताल मृदंग दफ[2]। (११५)
कुंवर की खुशी सब हुआ[1] घर बघर, किया जश्न नौ रोज़ सारा नगर। (११६)
कहा राजपत ने कि पंडित सब आये[1] कुंवर की जन्म पत्री वह सब बनाएँ। (११७)
बहुत पन्डित आए सभी ज्ञानवन्त, जनेउ तलक देके बैठे महन्त। (११८)
किया बहुत सब पन्डितो ने विचार, कुंवर की जनम का किया सब शुमार। (११६)
बिचारा सब उसका करम का लिखा, लिखा था करम मे सरह की बिथा। (१२०)

---

(११४) (१) पू. प्र. सब (२) पू. प्र. [illegible]।
इसके बाद पूर्ण प्रति में कुंवर के [illegible] ....(छंद ११८) है।
(११५) (१) पू. प्र... तवायफ [illegible] फिरी [illegible]।
(२) पू. प्र ......मृदंग व दफ।
(११६) (१) [illegible] हुई (वह हुई [illegible] है।)
(११७) (१) पू. प्र. [illegible]। (२) पू. प्र. कुंवर की जन्म [illegible] सब बनावें।

वही फल जो दरवेश ने था दिया, उसी फल को रानी ने भोजन किया
लगाया सुगंध और बनाया सब अंग, किया सैर रानी ने राजा के संग
इसी दिन में[1] रानी हुयी गरभवता, यह सुनकर[2] हुआ खुश नगर का जना
हुयी बस की आस राजा के ज्यों, भरोसा हुआ राज व परजा के त्यों
सदा व्रत का जब किया यह धरम, विधाता ने सब पर किया यह करम
हुवो वह मुसाहिब जो राजा के थे, इन्होंने भी जो फरजंद एक भी न थे
महाराज पत के सदाव्रत से, हुवो के हुयी इस्तरी गर्भ सें[1]
हुए नव महीने लगा मास[2] दस, भरा अगस्थानी हुआ जिस्म बस
दहम मास[1] के कटे[2] बेश व कम, सो सायत में पाया कुंवर ने जनम
कुंवर से उजाला हुआ सब मंदिर, गगन पर से ज्यों भूई में आया चंदर।
खुशी का उजाला हुआ घर घर चन्द्रमा यहाँ था नगर दर नगर।
खबरदार सब इस खबर की जो थे, खबर यह महाराज तक ले गए।
महाराज ने जब सुनी यह खबर, खुशी हो के आया कुंवर के मन्दिर।
मंदिर में कुंवर पर पड़ी जब नजर, कुंवर पर निछावर किया सीम व जर।
हुआ देख दिल खुश महाराज का, किया हुक्म तब रंग और नाच का।

---

(१०१) (१) पू. प्र. उसी दिन रानी, ख. प्र. सो। (२) पू. प्र. ····सुनके।
छंद (१०२), (१०३) दोनों प्रतियों में नहीं।
(१०४) (१) पू. प्र.. 'उन्होंकि' ख. प्र. (उनो की)
(१०५) (१) पू. प्र. महाराज के सब धरम पुन्न से उन्होंके हुई इस्त्री गरब सें।
ख. प्र. महाराज के धरम भाव सें उनो के हुए इस्त्रि गरब से।
(१०६) (१) पू. प्र हुवा। (२) पू. प्र. मास। ख. प्र. मास
(१०७) (१) पू. प्र. व ख प्र. माह। (२) पू. प्र. व ख. प्र. गए। (३) पू.
(४) पू. प्रो, छंद १०७ में पूर्ण प्रति के बाद निम्नलिखित पंक्तियां हैं।
यकायक महाराज ने सुन कर खबर खुशी होके आया महल के भीतर।
भीतर आके दर्शन कुंवर का किया, कुंवर पर बहुत कुछ तजावर किया।
इसके बाद ताजो का स्वीकृत पाठ ११४ मदेला लगा बाजने 'मिलता है
१०८ के दोनो चरण मिल जाते हैं.
कुंवर से उजाला हुआ सब मंदिर गगन पर से ज्यों भुवन मे आया चंदर
(१०८) (१) ख. प. गगन सो बहा भुई पर आया चंदर इसके बाद ये पंक्तियां हैं :
यकायक महाराज सुनकर खबर, खुशी होके आया महल के भीतर।
भीतर आके दरसन कुंवर का किया, कुंवर पर बहुत कुछ निछावर किया
छंद (१०९) व (११०) दोनो प्रतियों में नहीं।
(१११), (११२) परिवर्तित रूप मे दोनों प्रतियों मे है।

मेदेला लगा हरतरफ बाजने, मुघड पातरीन[२] सब लगीं नाचने। (११४)
भगत्या तवायफ फिरी हर तरफ[1], बजी हर तरफ ताल मृदंग दफ[2]। (११५)
कुंवर की खुशी सब हुआ[1] घर बघर, किया जश्न नौ रोज सारा नगर। (११६)
कहा राजपत ने कि पंडित सब आवें[1] कुंवर की जन्म पत्री वह सब बनाऐं। (११७)
बहुत पण्डित आए सभी ज्ञानवन्त, जनेउ तलक देके बैठे महन्त। (११८)
किया बहुत सब पण्डितो ने बिचार, कुंवर की जनम का किया सब शुमार। (११६)
बिचारा सब उसका करम का लिखा, लिखा था करम में तरह की बिथा। (१२०)

---

(११४) (१) [illegible] (२) [illegible]
[illegible] ······(छंद ११८) है।
(११५) (१) [illegible]
(२) [illegible]
(११६) (१) [illegible]
(११७) (१) [illegible] (२) [illegible]

उत्पत्तिमूलक समीक्षा : जेनेवा के आलोचक[1]

डा० रामसेवक सिंह

अमरीकी 'नई आलोचना' लगभग सभी पश्चिमी देशों में महत्त्वपूर्ण पद्धति मानी गई, किन्तु कुछ आलोचनात्मक उपादानों के सार्वत्रिक होने के कारण सार्वभौमिक प्रतिक्रियायें शीघ्र ही परिलक्षित हुईं। अमरीका में 'शिकागो के आलोचकों'[2] ने नई आलोचना के विरोध में आवाज उठाई। नई आलोचना के जनक टी० एस० इलियट ने भी १९५६ में ऐसी आलोचना को 'नीबू-निचोड़'[3] कहा था जिसका उद्देश्य साहित्यिक कृति के आकृति-विधान को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने-परखने तक सीमित था। इसी प्रकार की एक प्रतिक्रिया जेनेवा के आलोचकों की भी थी जो १९३३ में मार्सल रेमों के शोध-प्रबंध द बदलेर ओ सुरियलिज़्म (De Baudelaire au surrealisme) के प्रकाशन के साथ ही उभरने लगी थी। इस ऐंटी-क्लासिकल विचार-धारा का सूत्रपात रेमों के हाथों हुआ। किन्तु यह कहना गलत होगा कि रेमों के विचार एकदम निजी अथवा आकस्मिक थे। फ्रांस में ही नुवेल रेवु फ्रांसे (Nouvelle Revue Francaise) के आलोचकों और शार्ल दु बो (Charles du Bos) से इस आलोचनापद्धति का सम्बंध जोड़ा गया है और बताया गया है कि ऐसे आलोचकों की एक परम्परा ही रही है जो रोमांटिक आलोचना से शुरू होकर पेटर, रस्किन और प्रूस्त से होती हुई रेमों के

---

१. मूलतः 'जेनेवा स्कूल' जेनेवा के भाषाशास्त्रियों के लिए प्रयुक्त हुआ था। बाद में उन छः आलोचकों के लिये हुआ जिनकी चर्चा यहाँ अभिप्रेत है . मार्सल रेमों (Marcel Raymond), जार्ज पूले (Georges Poulet), आलबेर बेगुएं (Albert Beguin), ज्यां रूसे (Gean Rousset), ज्यां-पियर रिशार (Gean-Pierre Richard) और ज्यां स्तारोबिन्स्की Jean Starobinski)। अमरीकी आलोचक जे० हिलिस मिलर (J. Hillis Miller) भी इसी खेमे का आलोचक है।

२. इस विधा के आलोचक हैं : आर. एस. क्रेन, एल्डर ओल्सन, रिचर्ड मकियन, डब्ल्यू० आर० कीट्स, नार्मन मैक्लियन और बर्नार्ड वाइनबर्ग।

३. देखें : एलियट का निबंध 'दि फ्रंटियर्स आफ क्रिटिसिज़्म'।

हाथों सुपुष्ट हुई थी। इस प्रकार रोमांटिक आलोचना से जेनेवा सम्प्रदाय की आलोचना का सीधा सम्बन्ध है। इसके अलावा दो जर्मन आलोचकों, विलहेम डिथले (Wilhem Dithley) और फ्रीडरिख गुंडोल्फ (Friedrich Gundolf) का भी प्रभाव रैमो पर काफी रहा है। तीसोत्तरी के प्रारम्भिक वर्षों के प्रारम्भ में ही आलबेर बेगुएं और जार्ज पूले भी थोड़े अन्तर के साथ आलोचना में वही अपेक्षायें रखने लगे थे। ये आलोचक एक दूसरे से परिचित थे और उन्होंने एक दूसरे से काफी-कुछ प्रभाव भी ग्रहण किया था, किन्तु यह मान्यता निराधार है कि उन्होंने सुनियोजित आन्दोलन चलाया था। इन सभी को एक सम्प्रदाय कहने का कारण सिर्फ यह था कि इनका निवास अधिकांशतः जेनेवा में ही था और ये—रिशार और पूले को छोड़कर—किसी न किसी प्रकार जेनेवा विश्वविद्यालय से सम्बधित थे। इस विशेष आलोचना-प्रणाली का उन्मेष दूसरे सेवे के आलोचकों, रिशार, स्तारोबिन्स्की, रुसे और हिलिस मिलर के हाथों सम्पन्न हुआ। मॉरिस ब्लांशो को भी जेनेवा सम्प्रदाय का आलोचक माना गया है[4] क्योंकि उसके निष्कर्ष उनके समान हैं। ये सभी आलोचक आलोचना से यही अपेक्षा रखते हैं कि वह साहित्यिक कृति की संरचना अथवा उसके उपादानों को नहीं बल्कि साहित्यकार के सृजनशील व्यक्तित्व और उसकी मानसिक गतिविधि का अध्ययन करे।

आलोचना की यह नई प्रणाली साहित्य के बाह्याकार की तकनीकी अथवा संरचनात्मक व्याख्या न कर साहित्यकार की उस मूल चेतना को प्रक्षेपित करना चाहती है जो शब्दों में अभिव्यक्त की जाती है। कृति अपने आप में स्वयं सत्ता होती है किन्तु आलोचना यदि शब्दों और उनके अर्थों, बिम्बों और उनके आवर्तित कलापों के विभिन्न अर्थों-व्याख्याओं तक सीमित रहे तो संभावना बनी रह जायेगी कि कृति के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया अनन्वेषित ही रह जाय। योरोपीय आलोचकों की धारणा है कि साहित्य एक क्रिया अथवा अनुभव है। इससे लगता है कि इनका काफी सम्बन्ध अस्तित्ववाद से है—सार्त्र के अस्तित्ववाद से उतना नहीं जितना की कीर्केगार्द, हुसर्ल और हाइडेगर से—और इनका सीधा सम्बन्ध उस साहित्यिक परम्परा से है जो बैरोक[5], रोमांटिक और अतियथार्थवादी शैलियों में लिखा गया। यही कारण है कि जेनेवा के आलोचकों की पद्धति काफी हद तक व्यक्तिपरक और स्वानुभूतिमूलक है। इनकी दृष्टि नीतिपरक और मानवीय है। इनकी दिलचस्पी का केन्द्र साहित्योन्तर्निहित मानवीय चेतना है। अतएव ये आलोचक लेखक के मानस के गह्वर में प्रवेश कर उस क्षण को उभारना चाहते हैं जब अनुभव अव्यक्त न रहकर शब्दों में स्थापित होता है।

---

४. जे. हिलिस मिलर ने ब्लांशो को इस वर्ग का आलोचक नहीं माना है (देखें उनका निबन्ध 'दि जेनेवा स्कूल', क्रिटिकल क्वार्टर्ली, विंटर १९६६) जब कि सारा एन. लावाल ने ब्लांशो को जेनेवा स्कूल का ही आलोचक माना है (देखें उनकी पुस्तक दी क्रिटिक्स आव कान्शसनेस: दि एक्सिस्टेंशल स्ट्रक्चर आफ लिटरेचर, १९६८)।

५. सत्रहवीं शताब्दी में प्रयुक्त कविता की अलंकृत और विदग्धतापूर्ण शैली।
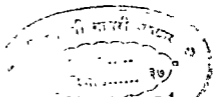
नही होता। लेखक की चेतना समयान्तर मे परिपक्व होती है। अत. अन्यान्य कृतियों मे लेखक के उभरते-बढते व्यक्तित्व अथवा साहित्यिक चेतना को देखा जा सकता है। यह व्यक्तित्व अथवा साहित्यिक चेतना निरपेक्ष नही होती, बल्कि हर पाठक की अपनी अलग समझ का प्रतिफल होती है। ब्लांशो की दृष्टि मे यह 'साहित्यिक चेतना' स्वयं लेखक से ही नही बल्कि उसके पाठक से भी विलग-विच्छिद्द होती है। अत. साहित्यिक व्यक्तित्व कृति से 'उद्घाटित' नही होता बल्कि रहस्यमय ढग से संकेतित प्रतीकात्मक उपादान होता है। इसलिये जेनेवा के सम्प्रदाय के आलोचक आकारवादी अथवा विवेचनात्मक आलोचना के विश्वासी नही। ये विश्लेषणविरोधी तत्वचिन्तन के हिमायती हैं। अत: ये आलोचक चेतना का विश्लेषण करने के बावजूद साहित्येतर विषयो की मीमासा मे नही उलझते। उनका उद्देश्य 'साहित्यिक' होता है। यह बात महत्वपूर्ण इसलिये भी है कि दर्शन, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के प्रभाव मे आलोचना अधिकतर अपनी दिशा भूलकर ऐसी बातो मे उलझ जाती है जिसका साहित्य से सीधा सम्बन्ध नही होता। इलियट ने उपरोक्त निबन्ध मे ठीक ही कहा था : यदि आलोचक का उद्देश्य पाठको को काव्य के समझने और जायका लेने मे सहायक होना है तो उसे "साहित्यिक आलोचक" होना चाहिये। आलोचना के लिये "आलोचना" से ज्यादा "साहित्यिक आलोचना" होना ज्यादा आवश्यक है।

ज़ाक मारितें (Jacques Maritain) और गैब्रियल मार्सल (Gabriel Marcel) जैसे विचारक साहित्य को धर्मचर्या' मानने के लिये प्रतिश्रुत होने के कारण शुद्ध साहित्यिक आलोचक नही माने जाते। सरचनावाद (Structuralism) भी लेखक की चेतना से सम्बद्ध होने के बावजूद शुद्ध साहित्यिक दृष्टि नही है। यह ठीक है कि इसके अनुयायियो का ध्यान इसी बात पर केन्द्रित होता है कि किस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान (Perception) शब्दो मे ढलने के पहले निश्चित सरचनाओ मे, अप्रकट होने के बावजूद, विद्यमान है। किसी भी संस्कृति को समझने के लिये दर्शन, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान, मानवविज्ञान और समाजशास्त्र आदि जैसे विषयो की सहायता से मानव-चिंतन की प्रक्रिया और मूलभूत विचारधाराओ को समझा जाता है। इस कार्य मे साहित्य भी माध्यम बनाया जा सकता है। किन्तु यही उद्देश्य का अन्तर जेनेवा सम्प्रदाय के आलोचको के सरचनावादी आलोचको से विलगाव के लिये उत्तरदायी है। यदि जेनेवा के आलोचक यह जानना चाहते है कि कृतिकार की चेतना मे प्रत्यक्षज्ञान किस प्रकार विशेष स्थितियो मे साहित्याकार ग्रहण करता है तो सरचनावादी आलोचक जानना चाहते हैं कि साहित्य के निर्माण मे लगे मूलभूत प्रत्यक्षज्ञान किस प्रकार समाज के विशेष ढाचे के लिये जिम्मेदार हैं। प्राग के भाषा-शास्त्रियो' का प्रयत्न इस दृष्टि से उद्धरणीय है : वे भाषा की बनावट और बुनावट का विश्लेषण करके किन्ही विशेष भाषा-भाषियो की चिंतनपद्धति का अध्ययन अवश्य

---

७. देखें : जोसेफ वाशेक (Joseph Vachek) की पुस्तक दि लिंग्विस्टिक स्कूल आफ प्राग, १९६६

'विश्व और मानव की सीधी पकड़ के लिये' यह जरूरी है कि लेखक 'धैर्यपूर्ण ध्यान और प्रेम' तथा 'उत्कट मनन' की सहायता से वास्तविकता के वाह्याकारों को चीरकर उसकी गहराई तक पहुंचे तथा उसकी 'उपस्थिति' को महसूस करें। यह तभी संभव है जब वह रीतिमुक्त, स्वच्छन्द और निश्चिन्त हो। शब्द का बाहुल्य अथवा रंगो की प्रचुरता—जो कि बैरोक साहित्य की विशेषता है—अनावश्यक और बाहर से जोड़ा हुआ नहीं, बल्कि बहुविध विश्व मे अभिव्यक्ति को व्यापक और सर्वग्राही बनाने के लिये किया गया था। केन्द्रीय अन्तर्ज्ञान को सक्षम अभिव्यक्ति देने के लिये जो भी तकनीकी तत्व—बिम्ब, प्रतीक, आवर्तित प्रकरण, शैली आदि—अपनाये जाएं वे अपने आप मे महत्वपूर्ण नहीं होते। उनकी उपयोगिता 'दृष्टि', 'उपस्थिति' अथवा 'पूर्ण यथार्थ' को प्रस्तुत करने मे होती है। तर्कणाप्रधान और रीतिबद्ध चिन्तन से विरक्ति और अन्तर्मन की रहस्यमय गहराईयो को कूतने की इच्छा जर्मनी-निवास के दरम्यान इतनी तीव्र थी कि जेनेवा मे आते आते रेमो की अभिरुचि अस्तित्ववादी घटनाक्रिया-विज्ञान (Existential Phenomenology) मे काफी बढ़ चुकी थी। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि अभी भी रेमो की दृष्टि मे साहित्य के दोनो अंग, आकार और केन्द्रीय अन्तर्ज्ञान, महत्त्वपूर्ण थे। यो झुकाव दूसरी वस्तु की ओर था। इन्ही कारणो से रेमो को संक्रातिकालीन आलोचक भी मानते हैं।

रूसो की पुस्तक रेवरी दु प्रामेनेर सालितेर (Reveries du promeneur solitaire) की भूमिका मे रेमो ने विशेष रूप से यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार रूसो के व्यक्तित्व का तनाव ही उसके विशिष्ठ कृतित्व के लिये उत्तरदायी था। प्रवृत्तिया दो प्रकार की होती है एक आत्मलीन और दूसरी समाजोन्मुख बनाने वाली। इन दो प्रवृत्तियो—आकर्षण-विकर्षण, लगाव-विलगाव, प्रेम-घृणा, आदि—के बीच मनुष्य का जीवन बीतता है। रूसो की ही तरह प्रत्येक लेखक अपने अनुभवों की प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वभावानुसार आत्मलीन अथवा समाजोन्मुख हो जाता है। कभी-कभी परिस्थितियो के दबाव मे किसी खास वृत्ति का अवलम्बन लेना पड़ता है। परन्तु अन्तत जिस भी अभिवृत्ति का प्राबल्य-प्राधान्य होता है उसके अनुकूल ही साहित्य भी होता है। लेखक का अन्तर्जगत स्वनिर्मित होता है और वह उसी के घेरे मे बद रहकर आत्माभिव्यक्ति करता है। परिणाम यह होता है कि उसके साहित्य मे उसके व्यक्तित्व की उलझन, उसका तनाव, अथवा उसकी विशिष्टता, अपने-आप झलक उठती है। वाह्यजगत के साथ आत्मा का तादात्म्य किस प्रकार संभव होता है और उसकी साहित्य मे अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है यही जानना रेमो का उद्देश्य था। इसके लिये पाठक-आलोचक से अपेक्षित है कि वह इस समग्र प्रक्रिया को फिर से मानसिक स्तर पर जिये, और उसकी अनुभूति से वह लेखक को उसके सही रूप मे देखे। इस कार्य मे स्मृति का विशिष्ठ महत्व है क्योंकि स्मृति ही प्रेरणा और सम्बल भी है।

अपनी सर्वाधिक प्रभावशाली पुस्तक द बादलेर ओ सुर्रियलिज़्म मे रेमो ने

समझने के ढंग की व्यंजना होती है। इस मूलाधार अन्तर्ज्ञान से ही कृति की सरंचनात्मक गहनता और गमवित प्राप्त होती है। यह अन्तर्ज्ञान व्यक्तिगत अस्तित्व को बूझने के प्रयत्न से उत्पन्न होता है और सामाजिक वातावरण के प्रत्यक्षज्ञान से टकराकर व्यक्ति को एक जीवनदृष्टि अपनाने में सहायता देता है। इसी अन्तर्दृष्टि को रेमो ने रूसो के माध्यम से व्यक्त किया है। १९६१ में प्रकाशित अपने निबंध 'ला मालादी ए ला गेरजों' ("La Maladie et la guerson") में रेमों के विचारों पर काफी हद तक धर्म का प्रभाव है। इस बात को रेमों ने स्वय अपने निबंध-संग्रह ज्यां-जाक रूसो : ला केत द सों ए ला रेवरी (Jean-Jacques Rousseau : La Quete de soi et lareverie, १९३२) की भूमिका में स्वीकार भी किया है। उसने लिखा है : 'मेरी अपनी ही सामान्य मानवीय दुर्बलता ने रूसो की ओर बार-बार आकृष्ट किया है। शायद इसीलिये मैं रूसो के पैलाजियसवाद[10] (Pelagianism) की कच्ची नीव को स्पष्ट रूप से देख भी सका हूं। सही बात यह है कि इन निबंधों मे—ये निबंध १९४१—६१ कालखंड में लिखे गये थे—रेमो ने कोई नई बात नही उठाई है। उसी अपने पुराने द्विविध सिद्धांत (Dualism) के प्रकाश में आत्मज्ञान प्राप्त करने की विधि की व्याख्या की है। केन्द्रीय कथ्य यही है कि रूसो की सारी व्यथा का कारण उसका आत्मप्रेम (Self-love) और स्वार्थ (Selfishness) में अन्तर न कर पाने की लाचारी है। अपने स्व से रूसो का इतना लगाव था कि वह किसी प्रकार वस्तुनिष्ठ होकर विचार कर ही नही सकता था। द्विविध सिद्धान्त के प्रकाश में इसी प्रकार की सत्तामीमासा अगली पुस्तक सेनाकुर, सोंसास्यों ए रेवेलास्यों (Senacour, Sensations et revelations, १९६५) में भी रेमो ने की है।

रेमो के निबन्ध-संग्रह वेरिते ए पोएज़ी (Varite et poesie, १९६४) के शीर्षक से यह बात जोर पकड गई थी कि उसकी दृष्टि मे सत्य और कविता समानार्थी हैं। किन्तु इस बात का निराकरण रेमो ने ही स्वय किया और बताया कि कवि और द्रष्टा मूलत: जीवन की सत्तामीमासा से सबद्ध होते हुये भी भिन्न हैं। कवि की अभिव्यक्ति व्यक्तिपरक और ताजा होती है। इतना ही नही, कविता 'वस्तुओं के सान्निध्य, खोई हुई एकता तक की पहुच, अथवा ब्रह्म से सम्भव साक्षात्कार' की अनुभूति की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है। इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान और काव्यात्मक अनुभव को मिलाकर एक प्रकार की लोकोत्तर एकता की प्राप्ति के लिये रेमो ने 'उन्मुक्त मानववाद' का अभिवादन किया है। इस दृष्टि से रेमो ने चेतना-प्रवाह को यथावत् प्रस्तुत करने वाली नई औपन्यासिक शैली का विरोध किया है। जीवन को यथावत् प्रस्तुत करने का अर्थ है तीव्र अनुभूति का अभाव, क्योंकि लेखक की अपनी दृष्टि में यदि कोई

---

१०. पेलाजियस (३६०—४२०) इगलैंड का सन्यासी और धर्मतत्वज्ञ था। पेलाजियस की मान्यता थी कि मनुष्य आदिपाप का अपराधी नही है। मनुष्य की पूर्ण इच्छा-स्वातंत्र्य है।

नुभूति होगी तो वह पाठक जीवन के और मूल्यों को मन कर एक नई गरवता
ान करता और इस प्रकार उनकी विशिष्ट अनुभूति के लिए जाना जाता।

ही धारणा कि लेखक की निजी दृष्टि उसे अन्य व्यक्तियों से अलग करती है,
सम्प्रदाय के आलोचकों की आधारभूत मान्यता है। लेखक की न तो कृतियों
य पठन से पहचाना जा सकता है और न ही आलोचकों की व्यवस्था से
दृष्टि ही उसकी विशिष्टता है। अत विभिन्न कृतियों का आधार-विश्लेषण न
ोचक को चाहिये कि वह पहले एक कृति और बाद में अन्य कृतियों का
करे और फिर उन विचारों, भावों, मान्यताओं आदि के अन्तर्विधान को समझे
ि अस्तित्वबोध को व्यक्त करते हों।

मों की पुस्तक व बादलेर औ सुरियलिस्म का प्रभाव अन्य आलोचकों पर
ीत रहा। ये आलोचक एकांगी होने के बावजूद रेमों के विचार-सूत्रों को ही
करते है: अस्तित्व के प्रत्यभिज्ञान मे व्यक्ति और वस्तु का गठबन्धन
ण, प्रतिभाशील लेखक की विशिष्ट किन्तु प्रातिनिधिक मानव-अस्तित्व की
अनुभूति की उत्कटता के फलस्वरूप निःसृत भाषा की प्रामाणिकता। रेमों
वा सम्प्रदाय के आलोचकों से बाद मे चलकर प्रभावित भी हुआ हो; किन्तु यह
है कि इस सम्प्रदाय का प्रेरणास्रोत रेमों का विविध सिद्धान्त ही था।

ालबेर बेगुएं (१९०१-५७) और रेमों साथी रहे हैं। इनकी आलोचना की
मान्यता भी एक ही रही है कि साहित्य एक प्रकार का आध्यात्मिक अनुभव
ी परम्परा से चली आती हुई आलोचना-पद्धति से जुड़े रहे, किन्तु बेगुएं ने
र मे साहित्य को व्यक्तिगत निस्तार का साधन मान लिया और इसके
प नये काथलिक साहित्य का अग्रदूत बना। इसका अर्थ यह कदापि नही कि
ी आलोचना किसी प्रकार के साहित्येतर विषयों मे उलझ गई है अथवा यास्पर्स
ers) की तरह वह ईसाई अस्तित्ववाद का विचारक बन गया है। उसकी
साहित्यिक है। यह दूसरी बात है कि बेगुए ने धार्मिक लेखकों[11]—पेगी, ब्लॉ,
ास्कल और बरनादो—की रचनाओं की ही मीमांसा की है।

गुएं की आलोचना मे तीन तत्त्वों का प्राधान्य है: व्यक्तिनिष्ठ, मानवीय तथा
। ईसाई मानवतावाद से प्रेरित होकर उसकी प्रारम्भिक आलोचना लिखी

: ला प्रियर द पेगी (La Priere de Peguy), १९४२ ; लेयों ब्लॉ लेपाश्यां (Leon Bloy
mpatient), १९४४, लेव द पेगी (L'Eve de Peguy), १९४८ ; लेयों ब्लॉ मिस्तिक द
दुलेर (Leon Bloy mystique de la douleur), १९४८, पासियांस द राम्यू (Patience
Ramuz), १९५० ; पास्कल पार लुइ-मेम (Pascal par lui-meme), १९५१ और
नादो पार लुइ-मेम (Bernando par lui-meme), १९५४। बालज़ाक विजयोनेर (Balzac
ionaure), १९४६ ही सिर्फ ऐसी पुस्तक है जिसमे प्रतिश्रुत धार्मिक लेखक की आलोचना नहीं
किन्तु बालज़ाक की मान्यता बेगुए की धारणाओ को पुष्ट करती है।

गई। किन्तु बाद की आलोचना का विवेच्य विषय ही ऐसा धार्मिक काव्य थो जिसमें मानव की आत्मा की आकुलता को वाणी देने का प्रयास हुआ था। बेगुए ने इस प्रकार अपनी मान्यताओं के अनुकूल जिन कवियों को पाया उन्हीं की कविता का विश्लेषण किया। किन्तु किसी न किसी रूप में बेगुए की आलोचना में रोमांटिक आत्मा की दुहरी वास्तविकता का बोध प्रबल रहा है। तथा साहित्य को आध्यात्मिक रेचन का माध्यम मानने का आग्रह अवश्य विद्यमान रहा है। उदाहरण के लिये नेरवाल[12] की कविता 'कवि के आत्मज्ञान का परिचायक होने के साथ-साथ परम सत्य' का भी आभास कराती है। कविता ठोस वास्तविकता से सूक्ष्म की ओर अभियान है। बेगुए की आलोचना में मानवजीवन का तात्त्विक चिंतन ही हुआ है। इस चिंतन के तीन आधारभूत मिथक हैं आत्मा की सत्ता, अवचेतन का अस्तित्व, एवं यह मान्यता कि कविता रहस्यमय ढंग से यथार्थ का तात्त्विक बोध कराती है। इसकी व्याख्या लाम रोमांतिक ए ल रेव (१९३७) में सविस्तार हुई है किन्तु बेगुए के विचार इसके पहले से ही स्पष्ट थे। यह दुहरी वास्तविकता का सिद्धान्त रेमो से थोड़ा भिन्न है: रेमों की दृष्टि में 'विश्लेषणयोग्य' यथार्थ कृति में ही समाहित होता है जब कि बेगुए यह मानता है कि कृति के बाहर का यथार्थ कृति में व्यक्त होकर भी कृति से अलग होता है। बेगुए कृति को अच्छी प्रकार समझने के लिये वृहत्तर संदर्भों की भी व्याख्या करता है। किन्तु रेमो की दृष्टि-परिधि कृति के अन्दर ही व्यक्त मानवी सत्ता और चेतना के परस्पर सम्पर्क से उद्भूत सत्य तक सीमित है। बेगुए के विचारों की चरम अभिव्यक्ति लेव द पेगी (L' Eve de Peguy, १९५२) में हुई है। पेगी की कविता में शब्दों से अधिक उनके मंत्रोच्चार जैसे नाद-सौन्दर्य से जो प्रभाव उत्पन्न किया गया है वह मानवीय सत्ता की विभिन्न स्थितियों को उजागर करने के लिये किया गया है। अभिव्यक्ति के केन्द्र में एक क्रोड होती है जिससे ही कविता निःसृत होती है। यह केन्द्रीय क्रोड अभिसारी अथवा अपसारी दोनों ही होती हैं। इसलिए पेगी ने अपने शब्दों में न केवल अपनी कविता के क्षितिजों को मापा है, बल्कि अपनी आत्मा के गहनतम, तलस्पर्शी अनुभव को भी शब्दों में बांधा है। कवि का यह प्रयत्न अस्तित्ववादी दार्शनिकों की अस्तित्व सम्बन्धी व्याख्या के नजदीक बैठता है। अस्तित्ववादियों का विशेष भार वरण की अनिवार्यता तथा मानव-नियति जैसे दार्शनिक पहलुओं पर रहा है। बेगुए ने बताया है कि किस प्रकार पास्कल[13] की कविता में ये ही विचार सर्वोपरि रहे हैं। पास्कल अन्य रोमानी कवियों की तरह असहाय और नग्न होने की पीड़ा का शिकार नहीं था। उसकी कविताओं में ऐसे कलाकार के दर्शन होते हैं जो शैली के प्रति पूर्णरूप से सजग हो। फिर भी वह अस्तित्ववादी दार्शनिकों की तरह इस पीड़ा से आक्रान्त था कि वह उस

---

१२. देखें बेगुए की पुस्तक जेरार द नेरवाल स्वीवी द पोएजी ए मिस्टिक (Gerard de Nerval ; Suivi de Poesie et mystique), १९४५

१३. देखें : पास्कल पार लुइ-मेम (Pascal Par lui-meme), १९५२

गुएं का मत है कि साहित्य को मनुष्य की मनोवैज्ञानिक कृति अथवा मानसिक
का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने वाला माध्यम एवं दर्शन मात्र समझना भूल
इस मनोवैज्ञानिक आलोचना उतनी ही असफल और निरर्थक है जितनी
की दार्शनिक व्याख्या । व्यक्ति जीवन का अभिव्यक्तिवादी विश्लेषण साहित्य
से उतना सम्बद्ध नहीं है जितना कि समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक अथवा
दृष्टि । वही पाठक आलोचक बनने का अधिकारी है जो साहित्यकार के साथ
स्थापित करे और उसके मानस-विकास को मानसिक स्तर पर जिये । ऐसे
ही बेगुएं के शब्दों में 'विश्वसनीय आलोचक'[1] (Critic in confidence)
सकता है । 'विश्वसनीय आलोचक' इस बात को स्वीकार करता है कि लेखक
सम्बन्धी भ्रांतियों के होते हुये भी कला के माध्यम से निजी सत्य से
साक्षात्कार करने का कार्य करता है । वह मानता है कि उसका सत्य
सम्प्रेषित करने योग्य होता है । पाठक और लेखक का यह सम्बन्ध
होने के कारण एक दूसरे से तादात्म्य के लिये अनुप्रेरित करता है । यदि
को मान लिया जाय तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि लेखक का संसार
संसार का पूरक होता है । लेखक के इस निर्मित संसार के अन्दर प्रवेश
पाठक विश्वसनीय आलोचक बन सकता है । लेखक अपने एकांत में बैठ
'परम व्यक्तिगत' दृष्टि को आकार प्रदान करने का प्रयत्न करता है । वह
व्यक्ति होता है, एक अदना इंसान जो अपने अनुभवों के दबाव में प्राप्त

---

[1] बेगुएं का निबंध 'प्रे-क्रिटिक' ('Pre-critique') जो एस्प्री (Esprit) के जून, १९५४
में प्रकाशित हुआ था । १९५० में बेगुएं ने एस्प्री का संपादन सम्भाला था ।

ग्रन्तर्ज्ञान को विश्व तक पहुचाने के लिये प्रयत्न करता है। उसके साहित्य की संरचना विशिष्ठ होती है जिसको समझने के लिये तादात्म्य ही एक मात्र साधन है। इस विचार के साथ लूसियन गोल्डमान (Lucien Goldmann) के सरचनात्मक विश्लेषण की पद्धति की तुलना की जा सकती है। गोल्डमान नही मानता कि व्यक्ति एकदम विशिष्ठ अतः समाज से कटा हुआ भी हो सकता है। मनुष्य समाज की इकाई है। अतः उसके अनुभव, विचार और उसकी विचार-सरणी आदि जिस समाज मे रहकर उसने लिखा है उसकी भांकी कराती है। अर्थात 'एक खास सत्य को सार्थक अर्थवत्ता प्रदान करने का प्रयत्न करते हैं'[15]। यह कहना कठिन है कि व्यक्ति निरपेक्षतया विशिष्ठ है अथवा सार्थक ढग से समाज का प्रतिनिधि है। निश्चित ही व्यष्टि और समष्टि का झगडा अपने आप मे पेचीदा है। इसे दृष्टिकोण का भेद मान लेने के बाद भी प्रश्न बना रहता है कि बेगुए साहित्य को क्यो वृहत्तर परिप्रेक्ष्य मे देखने की हिमायत करने के बाद उसे अपने आप मे पूर्ण ईकाई अथवा आधार-सामग्री मानने लगा है। बेगुए के निबन्ध 'नौत सुर ला क्रितिक लितरैर'[16] (Note sur la critique litteraire') को पढकर ऐसा लगता है कि वह रिशार और बाशलार (Bachelard) जैसे दूसरी पीढी के आलोचकों से काफी प्रभावित हुआ है। बेगुए ने स्वय इन आलोचको की पद्धति के बारे मे लिखा है : 'शब्द-चिन्हो के माध्यम से, जिनमे ही अकथित आधारभूत सत्य (Unspoken fundament) सघनित होता है, आलोचक चाहे तो लेखक के मनोविज्ञान को ही नही बल्कि उसके व्यक्तित्व के अपर पक्ष व विशिष्टता को भी पहचान सकता है। यह नई आलोचना की निश्चित धारणा है।'[17]

प्रारभ मे बेगुए की आलोचना मे साहित्य की सृष्टि-रहस्य के उद्घाटक के रूप मे देखा गया था, किन्तु बाद मे उसे लेखक के व्यक्तित्व की विशिष्टता का द्योतक माना गया। परिणाम यह हुआ कि उसने बहुत से लेखकों—जैसे पास्कल, नेरवाल, रिल्के, मालार्मे आदि—को भुला दिया। कहा जा सकता है कि लेखक के व्यक्तित्व के माध्यम से बेगुए ने अपने ही व्यक्तित्व को समझने-परखने के लिये आलोचना लिखी थी।

जेनेवा संप्रदाय का तीसरा प्रभावशाली आलोचक जार्ज पूले[18] है जिसने रेमों और बेगुए के आलोचनात्मक मानदडो को खूब व्यवस्थित ढग से प्रयुक्त किया है।

---

१५ देखें. लूसियन गोल्डमान की पुस्तक पूर उन सोसियोलोजी दु रोमां (Pour une Sociologie du roman), १९६४

१६. देखें 'नोत सुर ला क्रितिक लितरेर', एस्प्री के मार्च १९५५ अक में प्रकाशित।

१७. देखें : बेगुए का निबंध 'एत्यूद सूर ला टोम्प्सुमे' ('Etudes sur la tempshumain') एस्प्री के मई १९५१ अक मे प्रकाशित।

१८. अपनी आलोचना के मानदंडो को पूले ने स्वयं रिशार की पुस्तक लितरेत्योर ए सेंसास्यों (१९५४) की भूमिका मे तथा अन्य निबंध 'ले लाउरे भूवेल' (१९५६) में स्पष्ट किया है।

[illegible]

पूले की आलोचना पद्धति पर [illegible] की [illegible] (१९११) और [illegible] के साथ [illegible] (१९३०) का ही नहीं [illegible] के [illegible] (The Great Chain of Being) का भी प्रभाव पड़ा है। कृतिकार विशेष के बारे उसकी [illegible] (Generic) केन्द्रीय अनुभूतियों [illegible] पर देने के कारण [illegible] शैली के बारे उसके [illegible] अनुभव का विश्लेषण अनिवार्य होता है — वह अनुभव जो प्रत्येक कृतिकार के लिए भी [illegible] है। यही केन्द्रीय [illegible] अथवा अनुभव (Foyer) कृति की विशिष्ट [illegible] और शैली को भी निर्धारित करता है। विभिन्न [illegible] को [illegible] कर कृति को [illegible] एकात्मता प्रदान करती है। केन्द्रीय [illegible]-अनुभव के सिद्धान्त का प्रतिपादन शार्ल दु बो (Charles du Bos) ने [illegible] किया था। इसके अलावा उस पर गास्तों बाशलार (Gaston Bachelard) का भी प्रभाव पड़ा है। [illegible] की विधि का प्रयोग कर बाशलार की तरह पूले ने भी साहित्यकार के तात्विक अनुभव को उसके शारीरिक संवेदनों के साथ जोड़ कर देखा है। संवेदन (Sensations) ही कृति के लिये [illegible] होते हैं क्योंकि उन्हीं के सहारे वह तात्विक निष्कर्षों तक पहुंचने का उपक्रम करता है। ले मेतामारफ़ोज़ दु सेर्कल (Les Metamorphoses du Cercle, १९६१) में पूले ने ऐन्द्रिय बिम्बों के माध्यम से अमूर्त मनोभावों को समझने-आंकने का भी प्रयत्न किया था। तरीका यह था कि पहले उन शब्दों, मुहावरों और बिम्बों का चयन किया गया था जो मानव अस्तित्व के विशिष्ट भुकाव को स्पष्ट करते थे और फिर उनके रूपविधान को दृष्टि में रखकर यह पता किया गया कि किस प्रकार विचार-क्रम में वही कलाप था। कृतिगत के प्रकरण-विचार से आरम्भ कर आलोचक कृतिकार के मानस के उस केन्द्रबिन्दु तक पहुंचा था जहा से केन्द्रीय अनुभव सकेन्द्री वृत की तरह बाहर फैलता गया था। अत्यक्षज्ञान के निरन्तर फैलते वृत की परिधि और केन्द्र के बीच की आन्तरिक दूरी को समझना ही आलोचक का मुख्य कार्य था। किन्तु अगली पुस्तकों, लेस्पास प्रूस्तियें (L'Espace proustien, १९६३) और एत्युद स ल्वां द देपार (Etudes, Le Point

De'part, १९६४) में पूले की आलोचना की केन्द्रीय दृष्टि क्षणिक और अव्यवस्थित अस्तित्व से हट कर अस्तित्व के उन तत्वों की ओर गई जो जीवन को विविध गति से सगत-ससक्त रखकर प्रतादान रखता है। परिणामस्वरूप उस ने विशेष युग को ही नहीं बल्कि प्रत्येक अनुभव की विशिष्ठता को पहचानने का आग्रह किया है।

अपनी आलोचना के प्रतिमानो का स्पष्टीकरण करते हुए पूले ने रिशार की पुस्तक लितरेत्योर ए सोसासियो (१९५४) में साहित्य को काल्पनिक बताया है। फिर भी यह स्पष्ट रूप से कहा है कि साहित्यिक के किसी विशेष विचार का ही प्रक्षेपण साहित्य में होता है। इसीलिये कृतिकार के उस विचार के केन्द्र तक पहुंचने के लिये प्रयत्नशील होने के कारण अपनी आलोचना को 'चेतनासम्बन्धी आलोचना' (Criticism of consciousness) कहा है। यह आलोचना दो प्रकार से सम्पन्न की जाती है : एक तो अन्तर्मुखी दृष्टि अपनाकर और दूसरे बहिर्मुखी दृष्टि। मोरिस ब्लाशो की पद्धति को पूले ने 'साहित्य का साहित्य', 'चेतना की चेतना' कहकर असन्तोषप्रद बताया है क्योंकि इस आलोचना में साहित्य की केन्द्रीय चेतना को बाह्यालम्बनों और सदर्भों से काट कर शुद्ध रूप में देखने का आग्रह किया गया है। अपने परिप्रेक्ष्य से कट कर कोई भी चेतना सार्थक नहीं रह जाती। साहित्य मानवीय, सपर्कों—उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति—का प्रतिफल है, न कि शून्य में जन्मी अजीबो-गरीब चीज़। अतः पूले को दूसरी बहिर्मुखी दृष्टि ही स्वीकार्य है। इस लिहाज से रिशार की नई आलोचना वरणीय है क्योंकि यह उत्पत्तिजनक मूल स्रोतों से सम्बन्धित होने के साथ ही अनुभूत यथार्थ से भी सम्बद्ध है।

दार्शनिक देकार्ट ने 'कोजिटो' (Cogito) शब्द का प्रयोग मनुष्य के उस बोध के लिये किया है जो उसके अनुभवों के दबाव में उसे आत्मस्थिति (Self-consciousness) का आभास देती है। यह बात हर किसी पर लागू होती है। लेखक भी अपने व्यक्तित्व के प्रति जो अपनी धारणायें रखता है उन्हीं का चित्रण करता है। भले ही वह अप्रत्यक्ष हो अथवा अनजाने ही अभिव्यक्त हो गई हो। इसी कोजिटो का पता लगाना पूले की आलोचना का ध्येय रहा है। किन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि कोजिटो उस ज्ञान से भिन्न है जो लेखक को अपने मित्रों, दुश्मनों प्रकाशकों, आलोचकों के सपर्क में आने से अपने बारे में होता है। यह साहित्यिक बिम्ब आत्म-बोध से भिन्न न होता तो व्यक्ति ही अपने कृतित्व में से उसमें आध्यात्मिक व्यक्तित्व का समरूप, पर्याय होता। इसलिये पूले ने कहा है कि विशेष विधा या रूप का वरण करते समय ही साहित्यकार अपनी प्रकृति को आकार प्रदान कर देता है। समय और स्थान दोनों का ही सम्मिलित प्रभाव कोजिटो को निर्मित करता है। कोजिटो का विकास वक्ररेखीय (Curvilinear) होता है। यह विकास जैसे साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन में होता है वैसे ही किसी युग की साहित्यिक प्रगति में भी हो सकता है। यह भी कहा जा सकता है कि यह बात समग्र मानव चेतना के इतिहास पर भी लागू होती है। क्योंकि कोजिटो व्यक्तिगत होने के साथ

पूले की आलोचना के लिये उत्पत्तिमूलक (Genctic) आलोचना एक व्यापक पैमाने पर स्वीकार्य गया है। किन्तु उत्पत्तिमूलक का अर्थ उस तरह के अध्ययन से नहीं है जो आलोचक को कृतिकार की डायरी, कृति में आयी और वस्तुओं तक सीमित रखती है। 'उत्पत्तिमूलक' से पूले का मतलब था पाठक की उस सहानुभूतिपूर्ण तैयारी का जिसके कारण वह कृतिकार के मानस में पैठकर उसके अनुभवों को पुन जीता है और यह जान पाता है कि किस प्रकार उस कृतिकार की पकड़ अपने अस्तित्व पर मजबूत हुई। वही क्षण सर्जन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व का होता है जब कृतिकार की अपनी पकड़ शब्दों में इतने ही कटा हुआ क्षण न रहकर काल-प्रवाह का अंग बन जाती है। अर्थात् एक अलगाया हुआ अनुभव जीवन के साथ जुड़कर सार्थक हो जाता है। यह क्षण चेतना का क्षण होता है। और उसी के साथ ही साहित्य का उद्गमस्थल। अतः जेनेवा के आलोचकों की आलोचना को 'चेतनासम्बन्धी आलोचना' संज्ञा से अभिहित करने में पूरा अर्थ व्यक्त नहीं होता। इस दृष्टि से देखने पर यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि पूले का 'प्रस्थान बिन्दु रेमो और बेगुएं के आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त से भिन्न है। रेमो और बेगुएं जब कि यह मानते हैं कि साहित्य के केंद्र में सिर्फ अन्तर्दर्शन होता है, पूले की दृष्टि में अन्तर्दर्शन के साथ 'विचार' भी होते हैं। चाहे वस्तुओं की दुनी के साथ सम्पर्क होने से और चाहे किसी अन्य कारण से जब लेखक की आत्मा में चेतना का अभ्युदय होता है तब कुछ सहवर्ती (Concomitant) विचार भी होते हैं जो उस चेतना को निर्दिष्ट और एकदिश बनाते हैं ताकि वह कृति में संगत होकर व्यक्त हो सके। १९६६ में प्रकाशित अपनी पुस्तक त्र्वा एसे द मितॉलॉजी रोमांतिक (Trois Essais de mythologie romantique) की भूमिका में पूले ने अपनी आलोचना को 'विषयवस्तु सम्बन्धी' (Thematic) आलोचना कहा है क्योंकि कृति के कारण और कृति में से ही उभरे व्यक्तित्व पर उसकी आलोचना का बल रहा है।

पूले की आलोचना में जेनेवा सम्प्रदाय के आलोचकों की लगभग सभी मान्यताओं का संगम और विकास देखने को मिलता है। इसलिये अस्तित्ववादी आलोचना को समझने के लिये पूले की आलोचना अधिक सहायक है। यह दूसरी बात है कि पूले की आलोचना से साहित्यकार के मानस में चल रही उथलपुथल और सुनिश्चित अन्तर्ज्ञान तक पहुंचने तक की अवस्थाओं का लेखा-जोखा होने के बावजूद यह आश्चर्यजनक है कि क्यों साहित्य की विशिष्टता को खण्डित कर उसके सौन्दर्य को मिलाया

जाता है। यदि हर कृतिकार का अपना निजत्व है, अपने अस्तित्व की विशिष्ट पकड़ है जो उसके कृतित्व को समरूपी ढांचे (Identical patterns) प्रदान करती है और जो विभिन्न प्रकरणों के बीच 'केन्द्रीय विचार-मोड' बनकर रहती है, तो उसकी जटिलता को बहुत सरल करके देखा जाने का दोष लगाया जा सकता है। यह अन्तर्विरोध अस्तित्ववादी आलोचना की चयनसम्बन्धी प्रारंभिक धारणा के कारण है जिसमें उद्दिष्ट विचार को ही हर प्रकार से देखने का आग्रह होता है।

पूले के प्रभाव में दो आलोचक ज्यां पियर रिशार (१६२२—) और जे० हिलिस मिलर विशेष रूप से आये हैं। रिशार की आलोचना में पूले से कहीं ज्यादा बल जीवन के बाह्य उपकरणों पर दिया गया है। घटनाक्रिया-विज्ञान की दृष्टि से इतना सुस्पष्ट और सूक्ष्म विचारक और कोई नहीं है। ज्यां स्तारोबिन्स्की (१६२०—) ने सामाजिक दबावों से उत्पन्न मन को मरोड़ने वाले (Obsessive) मनोभावों के परस्पर टकराव से जो साहित्यिक दृष्टि में जटिलता आ जाती है उसी का विश्लेषण-विवेचन किया है। अमरीकी आलोचना की रूपवादी परंपरा के प्रभावों में पले होने के कारण मिलर की आलोचना-पद्धति में कृति की सौन्दर्यवादी व्याख्या पर भी बल दिया गया है, किन्तु मुख्यतः वह अस्तित्ववादी परिप्रेक्ष्य का ही आलोचक है। मिलर ने अपनी पुस्तक **चार्ल्स डिकेंस दि वर्ल्ड आफ हिज नावेल्स** (Charles Dickens The World of His Novels, १६५६) में स्पष्ट कर दिया है कि विशिष्ट कृतियों का विश्लेषण और व्याख्या से कहीं ज्यादा उसका उद्देश्य उस तात्त्विक दृष्टि पर रहा है जो कृतिकार के प्रेरक तत्व होते हैं। यह बात अन्य उत्पत्तिमूलक आलोचकों ने भी कही है। मिलर की आलोचना इस माने में उन आलोचकों से भिन्न है कि इसने अन्यों की तरह समग्र कृतित्व को दिशान्तरित और रूपायित करने वाली मूल वैचारिक मोड़ को तो देखा ही है, साथ में कृति के अन्दर आने वाले विभिन्न चरित्रों के कथनों-विचारों का भी विश्लेषण किया है। और यह जानना चाहा है कि किस प्रकार वे साहित्यकार के आत्मपरक व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने में सहायक हुए हैं। इस दृष्टि से लेखक का कृतित्व उसके अज्ञान की स्थिति से आत्मज्ञान की स्थिति तक की यात्रा का वृत्तान्त है। इस प्रकार कृतित्व किसी पूर्वोपस्थित (Pre-existent) मानसिक क्रिया का चित्रण नहीं, बल्कि एक माध्यम है जिसके सहारे लेखक अपने आप को समझता और फिर अपने साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण करता है। आत्मबोध और आत्मनिर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिये कृतित्व माध्यम है। पूले और मिलर दोनों ही इस प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझने के लिये ऐसे शब्दों, वाक्यों, बिम्बों और संवादों को छांटकर साहित्यिक व्यक्तित्व की अपने आलोचक मन पर पड़ी छाप को स्पष्ट करना चाहते हैं। यह बहिर्वेशन का तरीका दोनों आलोचकों ने एक ही तरह से अपनाया है, किन्तु उनकी उपलब्धियों में अन्तर है. पूले की व्याख्या अभिव्यक्तिपूर्व (Supra-verbal) स्थिति से सम्बद्ध है, जब कि मिलर की पाठ-व्याख्या (Texual analysis) का

सार्वभौमिक भी हो सकता है। इसी दृष्टि से एतीवे सुर स तॉम्पुमें मे साहित्यिक प्रतिभाओं की कृतियों की व्याख्या की गई है। और यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार एकरैखिक संरचना वाले कथानकों में परिवेश का चित्रण उस कथानक से अपेक्षतया कम सत्यदर्शी होता है जिसका केन्द्र और वृत्त दोनों ही द्रष्टा की चेतना होती है।

पूले की आलोचना के लिये उत्पत्तिमूलक (Genetic) आलोचना एक व्यापक पैमाने पर स्वीकार्य संज्ञा है। किन्तु उत्पत्तिमूलक का अर्थ उस तरह के अध्ययन से नहीं है जो आलोचक को कृतिकार की डायरी, कृति के प्रारूपों और वक्तव्यों तक सीमित रखती है। 'उत्पत्तिमूलक' से पूले का मतलब था पाठक की उस सहानुभूतिपूर्ण तैयारी का जिसके कारण वह कृतिकार के मानस मे पैठकर उसके अनुभवों को पुन. जीता है और यह जान पाता है कि किस प्रकार उस कृतिकार की पकड़ अपने अस्तित्व पर मजबूत हुई। वही क्षण सर्जन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व का होता है जब कृतिकार की अपनी पकड शब्दों मे ढलते ही कटा हुआ क्षण न रहकर काल-प्रवाह का अंग बन जाती है। अर्थात एक अनगाया हुआ अनुभव जीवन के साथ जुडकर सार्थक हो जाता है। यह क्षण चेतना का क्षण होता है। और उसके साथ ही साहित्य का उद्गमस्थल। अतः जेनेवा के आलोचकों की आलोचना को 'चेतनासम्बधी आलोचना' सज्ञा से अभिहित करने मे पूरा अर्थ व्यक्त नही होता। इस दृष्टि से देखने पर यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि पूले का 'प्रस्थान बिन्दु रेमो और बेगुएं के आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त से भिन्न हैं। रेमों और बेगुएं जब कि यह मानते हैं कि साहित्य के केंद्र में सिर्फ अन्तर्ज्ञान होता है, पूले की दृष्टि मे अन्तंर्ज्ञान के साथ 'विचार' भी होते हैं। चाहे वस्तुओ की चुप्पी के साथ सम्पर्क होने से और चाहे किसी अन्य कारण से जब लेखक की आत्मा मे चेतना का अभ्युदय होता है तब कुछ सहवर्ती (Concomitant) विचार भी होते है जो उस चेतना को निर्दिष्ट और एकदिश बनाते हैं ताकि वह कृति मे संगत होकर व्यक्त हो सके। १९६६ मे प्रकाशित अपनी पुस्तक त्रया एसे द मितॉलॉजी रोमांतिक (Trois Essais de mythologie romantique) की भूमिका मे पूले ने अपनी आलोचना को 'विषयवस्तु सम्बन्धी' (Thematic) आलोचना कहा है क्योंकि कृति के कारण और कृति मे से ही उभरे व्यक्तित्व पर उसकी आलोचना का बल रहा है।

पूले की आलोचना मे जेनेवा सम्प्रदाय के आलोचकों की लगभग सभी मान्यताओं का संगम और विकास देखने को मिलता है। इसलिये अस्तित्ववादी आलोचना को समझने के लिये पूले की आलोचना अधिक सहायक है। यह दूसरी बात है कि पूले की आलोचना से साहित्यकार के मानस मे चल रही उथलपुथल और सुनिश्चित अन्तर्ज्ञान तक पहुंचने तक की अवस्थाओं का लेखा-जोखा होने के बावजूद यह आश्चर्य-जनक है कि क्यों साहित्य की विशिष्ठता को खडित कर उसके सौन्दर्य को मिलाया

जाता है। यदि हर कृतिकार का अपना निजत्व है, अपने अस्तित्व की विशिष्ट पकड़ है जो उसके कृतित्व को समरूपी ढांचे (Identical patterns) प्रदान करती है और जो विभिन्न प्रकरणों के बीच 'केन्द्रीय विचार-श्रोड' बनकर रहती है, तो उसकी जटिलता को बहुत सरल करके देखा जाने का दोष लगाया जा सकता है। यह अन्तर्विरोध अस्तित्ववादी आलोचना की चयनसम्बन्धी आत्यन्तिक धारणा के कारण है जिसमें उद्दिष्ट विचार को ही हर प्रकार से देखने का आग्रह होता है।

पूले के प्रभाव में दो आलोचक ज्यां पियर रिशार (१६२२—) और जे० हिलिस मिलर विशेष रूप से आये हैं। रिशार की आलोचना में पूले से कहीं ज्यादा बल जीवन के बाह्य उपकरणों पर दिया गया है। घटनाक्रिया-विज्ञान की दृष्टि से इतना सुस्पष्ट और सूक्ष्म विचारक और कोई नहीं है। ज्यां स्तारोबिन्स्की (१६२०—) ने सामाजिक दबावों से उत्पन्न मन को मरोड़ने वाले (Obsessive) मनोभावों के परस्पर टकराव से जो साहित्यिक दृष्टि में जटिलता आ जाती है उसी का विश्लेषण-विवेचन किया है। अमरीकी आलोचना की रूपवादी परम्परा के प्रभावों में पले होने के कारण मिलर की आलोचना-पद्धति में कृति की सौन्दर्यवादी व्याख्या पर भी बल दिया गया है, किन्तु मुख्यत: वह अस्तित्ववादी परिप्रेक्ष्य का ही आलोचक है। मिलर ने अपनी पुस्तक **चार्ल्स डिकेंस दि वर्ल्ड आफ हिज नावेल्स** (Charles Dickens : The World of His Novels, १६५६) में स्पष्ट कर दिया है कि विशिष्ट कृतियों का विश्लेषण और व्याख्या से कहीं ज्यादा उसका उद्देश्य उस तात्विक दृष्टि पर रहा है जो कृतिकार के प्रेरक तत्व होते हैं। यह बात अन्य उत्पत्तिमूलक आलोचकों ने भी कही है। मिलर की आलोचना इस माने में उन आलोचकों से भिन्न है कि इसने अन्यों की तरह समग्र कृतित्व को दिशान्वित और रूपायित करने वाली मूल वैचारिक श्रोड को तो देखा ही है, साथ में कृति के अन्दर आने वाले विभिन्न चरित्रों के कथनों-विचारों का भी विश्लेषण किया है। और यह जानना चाहा है कि किस प्रकार वे साहित्यकार के आत्मपरक व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने में सहायक हुए हैं। इस दृष्टि से लेखक का कृतित्व उसके अज्ञान की स्थिति से आत्मज्ञान की स्थिति तक की यात्रा का वृत्तान्त है। इस प्रकार कृतित्व किसी पूर्वोपस्थित (Pre-existent) मानसिक क्रिया का चित्रण नहीं, बल्कि एक माध्यम है जिसके सहारे लेखक अपने आप को समझता और फिर अपने साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण करता है। आत्मबोध और आत्मनिर्माण की प्रक्रिया को समझने के लिये कृतित्व माध्यम है। पूले और मिलर दोनों ही इस प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझने के लिये ऐसे शब्दों, वाक्यों, बिम्बों और संवादों को छांटकर साहित्यिक व्यक्तित्व की अपने आलोचक मन पर पड़ी छाप को स्पष्ट करना चाहते हैं। यह बहिर्वेशन का तरीका दोनों आलोचकों ने एक ही तरह से अपनाया है, किन्तु उनकी उपलब्धियों में अन्तर है. पूले की व्याख्या अभिव्यक्तिपूर्व (Supra-verbal) स्थिति से सम्बद्ध है, जब कि मिलर की पाठ-व्याख्या (Texual analysis) का

उद्देश्य प्रेरक अनुभव के दबाव में उत्पन्न विभिन्न मानसिक प्रभावों को ह
करना होता है। इसीलिये यह बात महत्वपूर्ण है कि जब फ्रेंच लेखक द्वार
बारे में प्रयुक्त शब्दों और कथनों का बहिर्वेशन (Extrapolation) कर
व्याख्या के आधार पर साहित्यिक व्यक्तित्व को जानना चाहता है, [illegible]
पात्रों के कथनों, संवादों और विचारों का भी विश्लेषण संसार को समझ
लिये किया है।

इन आलोचकों के साथ ही मारिस ब्लांशो की चर्चा भी आवश्यक है।
का दृष्टिकोण नकारात्मक और शून्यवादी है। वह नए अनस्तित्ववादी
और अनुपस्थिति (Anti-presence) का आलोचक है। कृति में साहित्यकार
उपस्थिति को जेनेवा के अन्य आलोचकों ने केंद्रीय महत्व दिया था। किन्तु
मानता है कि कृति में साहित्यकार का योग नहीं होता। शरीरधारी कृतिकार
अनुभव को वस्तुनिष्ठ होकर निर्वैयक्तिक ढंग से अपनी कृति में प्रस्तुत क
कारण निरपेक्ष स्रष्टा होता है। अतः कृति कृतिकार के व्यक्तित्व की अभि
नहीं करती। कृति एक अलग-अलग स्वायत्त सत्ता होती है क्योंकि उसमें
अनुभव ही मूल वस्तु है। लेखक और पाठक तो सिर्फ बहाना होते हैं
माध्यम से उस स्वतन्त्र अनुभव को शब्दों में अभिव्यक्ति मिलती है। कुल मि
कहा जा सकता है कि ब्लांशो बाह्य यथार्थ के अस्तित्व को नकारता है
निरपेक्ष व्यक्तिपरक अनुभव को कृति के निर्माण में सर्वाधिक महत्व का उप
मानता है। ब्लांशो की आलोचना को घटनाक्रिया-विज्ञान सम्मत माना जाता है
पूले की आलोचना को अस्तित्ववादी। किन्तु सही बात यह है कि ब्लांशो
आलोचना पूले की अपेक्षा अधिक अंश में अस्तित्ववादी है क्योंकि वह कृतिक
संवेदनशील व्यक्तित्व से ही संबन्धित होता है न कि बाह्य यथार्थ से उसके
होने की स्थिति से। इस प्रकार ब्लांशो भी अन्य सहधर्मी आलोचकों की
साहित्य को अनुभव का प्रदर्शन ही मानता है।

अन्य आलोचक अनुभव की प्रामाणिकता पर विशेष ध्यान देने के बावजूद उ
अभिव्यक्ति पर गौर नहीं करते थे, किन्तु ब्लांशो का ध्यान इस बात पर भी रह
अन्य प्रतिमानों के साथ इस दृष्टिकोण का सम्यक विवेचन फो पा (Faux Pas, १९
और ला पार दु फ़ो (La Part du feu, १९४९) में किया गया था। ल
दोरफ़े (Le Regard d'Orphee) शीर्षक निबन्ध में ब्लांशो ने आरफियस-युरि
मिथक की सहायता से अपनी आलोचना-पद्धति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया
आरफियस अपनी प्रेमिका युरिडाइस के प्रेम में इतना उन्मत्त था कि उसे खोजता
पाताल लोक में पहुंचा। वह वापस आते समय युरिडाइस को तो न ला सका,
उसकी याद जरूर साथ लेता आया। वही याद उसके संगीत की शोभा रही। पाता
भूलोक अर्थात अंधकार से प्रकाश-लोक की ओर की यात्रा ऐसी ही होती है। इदम्
तन में जाकर जब लेखक पुनः बाहर लौटता है और फिर उन अनुभवों को

के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है तो उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह न तो सब कुछ याद रख सकता है और न ही सटीक भाषा में व्यक्त कर सकता है। उसकी भाषा उसके अनुभव के लिये अक्षम होकर भी अभिव्यक्ति अथवा सम्प्रेषण का एकमात्र साधन है। इसलिये वह अनुभव करने वाला ही जानता है कि किस प्रकार की शब्द-व्यवस्था उसके अनुभव को आकार दे सकती है। अतः यह कार्य करने के लिये लेखक को सचेत और सचेष्ट होना चाहिये। वह अतियथार्थवादी लेखकों की तरह स्वतः स्फुरित (Automatic) अभिव्यक्ति पर निर्भर नहीं रहता। वह अभिव्यक्ति को निखारता है, अपनी विशिष्ट भाषा (Rhetoric) का निर्माण करता है। और एक बार अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देने के बाद वह उस अनुभव तथा कृति से तटस्थ हो जाता है। तब पाठक और आलोचक उस कृति के सहारे मूल अनुभव तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं। अपने मानस में कृतिकार के केन्द्रीय अनुभव को पुनरुज्जीवित कर वे अमूर्त शब्दों को मुखर और जीवन्त कर देते हैं। इस प्रकार आलोचना का कार्य है साहित्य को चेतना का पर्याय मानकर उससे सान्निध्य प्राप्त करना। अतः ब्लांशो की आलोचना में इस बात पर काफी बल दिया गया है कि कैसे साहित्य को पढ़ा जाय ताकि उसका पूर्ण आनन्द लिया जा सके।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, जेनेवा सम्प्रदाय के आलोचक और ब्लांशो चेतनामूलक आलोचना के दो छोर हैं एक की दृष्टि से यदि आलोचना का कर्त्तव्य धनात्मक चेतना की व्याख्या है तो दूसरे की दृष्टि से ऋणात्मक चेतना की। परन्तु यह भी सच है कि दोनों ही साहित्य को ऐसी चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं जो कृतिकार की आत्मा के साथ बाह्य यथार्थ के सम्पर्क और संघर्ष से उत्पन्न होती है, और भाषा की सहायता से आकार ग्रहण करती है। अर्थात साहित्यिक संरचना में कृतिकार की चेतना के समाहित होने के कारण हमारे लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि इसी कृति को ही हम प्राप्त तथ्य मानें, और इसी की सहायता से मूल चेतना की ओर प्रयाण करें। ध्यान रहे कि आकारवादी 'नई आलोचना' भी साहित्यिक कृति को स्वायत्त मानकर उसी की भाषा, संरचना तथा बिम्बों-प्रतीकों की पुनरावृत्ति का अध्ययन करती है। जीवन-चरित, ऐतिहासिक क्षण, समाजशास्त्रीय परिवेश, आदि को कृति को समझने में अनावश्यक मानने वाली 'नई आलोचना' आकार के विश्लेषण तक ही सीमित रहती है। जेनेवा सम्प्रदाय के अनुयायियों की आलोचना में इस विश्लेषण को किसी अमूर्त चेतना की अभिव्यक्ति माना जाता है। इसलिये कृति में कृतिकार के सूक्ष्म व्यक्तित्व को खोजने का क्रम तब तक चालू रहता है जब तक कि आलोचक का अपना बिम्ब न बने। इस प्रकार कृतिकार के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अनेक बिम्ब होते हैं। यह आलोचक के अपने अस्तित्वबोध, मूल्य और स्वभाव पर निर्भर करता है कि वह किस दृष्टि से कृति का विश्लेषण करता है।

---

१९. ल्स्पास लितरेर (L'Espace litteraire), १९५५ में संग्रहीत।

उद्देश्य प्रेरक अनुभव के दबाव में उत्पन्न विभिन्न तकनीकी प्रभावों को हृदयंगम करना होता है। इसीलिये यह बात महत्वपूर्ण है कि जब पूले लेखक द्वारा उनके बारे में प्रयुक्त शब्दों और कथनों का बहिर्वेशन (Extrapolation) कर उनकी व्याख्या के आधार पर साहित्यिक व्यक्तित्व को जानना चाहता है, मिलर ने अन्य चरित्रों के कथनों, संवादों और विचारों का भी विश्लेषण लेखक को समझने के लिये किया है।

इन आलोचकों के साथ ही मारिस ब्लांशो की चर्चा भी आवश्यक है। ब्लांशो का दृष्टिकोण नकारात्मक और शून्यवादी है। अतः वह अनस्तित्ववादी दृष्टि और अनुपस्थिति (Anti-presence) का आलोचक है। कृति में साहित्यकार की उपस्थिति को जेनेवा के अन्य आलोचकों ने केंद्रीय महत्व दिया था। किन्तु ब्लांशो मानता है कि कृति में साहित्यकार का वास नहीं होता। शरीरधारी कृतिकार अपने अनुभव को वस्तुनिष्ठ होकर निर्वैयक्तिक ढंग से अपनी कृति में प्रस्तुत करने के कारण निरपेक्ष स्रष्टा होता है। अतः कृति कृतिकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करती। कृति एक अलग-थलग स्वायत्त सत्ता होती है क्योंकि उसमें व्यक्त अनुभव ही मूल वस्तु है। लेखक और पाठक तो सिर्फ बहाना होते हैं जिनके माध्यम से उस स्वतंत्र अनुभव को शब्दों में अभिव्यक्ति मिलती है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि ब्लांशो बाह्य यथार्थ के अस्तित्व को नकारता है और निरपेक्ष व्यक्तिपरक अनुभव को कृति के निर्माण में सर्वाधिक महत्व का उपकरण मानता है। ब्लांशो की आलोचना को घटनाक्रिया-विज्ञान सम्मत माना जाता है और पूले की आलोचना को अस्तित्ववादी। किन्तु सही बात यह है कि ब्लांशो की आलोचना पूले की अपेक्षा अधिक अंश में अस्तित्ववादी है क्योंकि वह कृतिकार के संवेदनशील व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित होता है न कि बाह्य यथार्थ से उसके जुड़े होने की स्थिति से। इस प्रकार ब्लांशो भी अन्य सहधर्मी आलोचकों की तरह साहित्य को अनुभव का प्रदर्शन ही मानता है।

अन्य आलोचक अनुभव की प्रामाणिकता पर विशेष ध्यान देने के बावजूद उसकी अभिव्यक्ति पर गौर नहीं करते थे, किन्तु ब्लांशो का ध्यान इस बात पर भी रहा है। अन्य प्रतिमानों के साथ इस दृष्टिकोण का सम्यक विवेचन फ़ो पा (Faux Pas, १९४३) और ला पार दु फ़ो (La Part du feu, १९४९) में किया गया था। ल रगार दॉरफ़े (Le Regard d'Orphee) शीर्षक निबन्ध में ब्लांशो ने आरफियस-युरिडाइस मिथक की सहायता से अपनी आलोचना-पद्धति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। आरफियस अपनी प्रेमिका युरिडाइस के प्रेम में इतना उन्मत्त था कि उसे खोजता वह पाताल लोक में पहुंचा। वह वापस आते समय युरिडाइस को तो न ला सका, किन्तु उसकी याद जरूर साथ लेता आया। वही याद उसके संगीत की शोभा रही। पाताल से भूलोक पर्यंत अंधकार से प्रकाश-लोक की ओर की यात्रा ऐसी ही होती है। इदम् और अवचेतन में जाकर जब लेखक पुनः बाहर लौटता है और फिर उन अनुभवों को भाषा

के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है तो उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह न तो सब कुछ याद रख सकता है और न ही सटीक भाषा में व्यक्त कर सकता है। उसकी भाषा उसके अनुभव के लिये अक्षम होकर भी अभिव्यक्ति अथवा सम्प्रेषण का एकमात्र साधन है। इसलिये वह अनुभव करने वाला ही जानता है कि किस प्रकार की शब्द-व्यवस्था उसके अनुभव को आकार दे सकती है। अतः यह कार्य करने के लिये लेखक को सचेत और सचेष्ट होना चाहिये। वह अतियथार्थवादी लेखकों की तरह स्वतः स्फुरित (Automatic) अभिव्यक्ति पर निर्भर नहीं रहता। वह अभिव्यक्ति को निखारता है, अपनी विशिष्ट भाषा (Rhetoric) का निर्माण करता है। और एक बार अपने अनुभव को अभिव्यक्ति देने के बाद वह उस अनुभव तथा कृति से तटस्थ हो जाता है। अब पाठक और आलोचक उस कृति के सहारे मूल अनुभव तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं। अपने मानस में कृतिकार के केन्द्रीय अनुभव को पुनरुज्जीवित कर वे अमूर्त शब्दों को मुखर और जीवन्त कर देते हैं। इस प्रकार आलोचना का कार्य है साहित्य को चेतना का पर्याय मानकर उससे सानिध्य प्राप्त करना। अतः ब्लांशो की आलोचना में इस बात पर काफी बल दिया गया है कि कैसे साहित्य को पढ़ा जाय ताकि उसका पूर्ण आनन्द लिया जा सके।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, जेनेवा सम्प्रदाय के आलोचक और ब्लांशो चेतनामूलक आलोचना के दो छोर हैं एक की दृष्टि में यदि आलोचना का कर्तव्य धनात्मक चेतना की व्याख्या है तो दूसरे की दृष्टि में ऋणात्मक चेतना की। परन्तु यह भी सच है कि दोनों ही साहित्य को ऐसी चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं जो कृतिकार की आत्मा के साथ बाह्य यथार्थ के सम्पर्क और संघर्ष से उत्पन्न होती है, और भाषा की सहायता से आकार ग्रहण करती है। अर्थात साहित्यिक सरचना में कृतिकार की चेतना के समाहित होने के कारण हमारे लिये यह अनिवार्य हो जाता है कि इसी कृति को ही हम प्राप्त तथ्य मानें, और इसी की सहायता से मूल चेतना की ओर प्रयाण करें। ध्यान रहे कि आकारवादी 'नई आलोचना' भी साहित्यिक कृति को स्वायत्त मानकर उसी की भाषा, सरचना तथा बिम्बों-प्रतीकों की पुनरावृत्ति का अध्ययन करती है। जीवन-चरित, ऐतिहासिक क्षण, समाजशास्त्रीय परिवर्तों, आदि को कृति को समझने में अनावश्यक मानने वाली 'नई आलोचना' आकार के विश्लेषण तक ही सीमित रहती है। जेनेवा सम्प्रदाय के अनुयायियों की आलोचना में इस विश्लेषण को किसी अमूर्त चेतना की अभिव्यक्ति माना जाता है। इसलिये कृति में कृतिकार के सूक्ष्म व्यक्तित्व को खोजने का क्रम तब तक चालू रहता है जब तक कि आलोचक का अपना बिम्ब न बने। इस प्रकार कृतिकार के सूक्ष्म व्यक्तित्व के अनेक बिम्ब होते हैं। यह आलोचक के अपने अस्तित्वबोध, मूल्य और स्वभाव पर निर्भर करता है कि वह किस दृष्टि से कृति का विश्लेषण करता है।

---

१९. लेस्पास लितरेर (L'Espace litteraire), १९५५ में संगृहीत।

कृति को चाहे बाह्य यथार्थ और कृतिकार की आत्मा के टकराव का परिणाम माना जाय अथवा उसे किसी अमूर्त विश्व चेतना की कृतिकार के माध्यम से अभिव्यक्ति—जैसा कि ब्लांशो मानता है यह मानना पड़ेगा कि इस आलोचना-पद्धति में कृतिकार के अस्तित्व-बोध पर ही बल दिया गया है। इसलिये इसे अस्तित्ववादी आलोचना की भी संज्ञा दी गई है। किन्तु इस आलोचना में सिर्फ असंगतिबोध, अस्तित्व की पीड़ा, वरण की अनिवार्यता—जैसे अस्तित्ववादी दर्शन के चालू मुहावरों का विश्लेषण और विवेचन ही आलोचकों का परम कर्तव्य नहीं रहा है। इनमें से प्रत्येक आलोचक की अपनी मनोवृत्ति है, और उसकी अपनी दृष्टि। अत एक खेमे के आलोचक होने के बावजूद इनके स्वर और इनकी आलोच्य अन्तर्वस्तु में भिन्नता है। अभी तक यह दृष्टिकोण विकासमान है, अतः इसकी सीमा-रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती।

सृजन-प्रक्रिया के रहस्यात्मक श्रीचक्र-कमल

—रमेश कुंतल मेघ

कलाकृति से कलाकार का संबंध अत्यंत जटिल और बेहद दिलचस्प है। यह निरंतर परिवर्तनशील भी है।

यदि हम सृजन-प्रक्रिया को काव्यात्मक अर्थ-छवियों के माध्यम से व्यक्त करें तो वह कीट्स के 'दूर स्थित परियों के लोकों-सी' या प्रसाद के 'दूरागत वंशी-रव-सी' रहस्यपूर्ण प्रतीत होगी क्योंकि इसका अधिकांश व्यापार तथा अभ्युत्थान अवचेतन के स्तरों में होता है (हम इस मान्यता से काफी असहमत हैं और प्रसंगानुसार इसकी विवेचना करेंगे)। अतः इस प्रक्रिया में अवश्य ही कोई ऐसा सिद्धांत होना ही चाहिए जो इस अवचेतन या पूर्व-चेतन की क्रिया को गति प्रदान करे, कम या से कम इसे अवरुद्ध नहीं होने दे। यह अक्षरशः सच है कि अनुभूति की सच्चाई, समग्रता और तल्लीनता की मात्रा ही कलाकार के अवचेतन को सापेक्षिक तौर से उद्वेलित कर पाती है। कई कलाकार सृजन में इतने सजग या चेतन हो जाते हैं कि एक ही कृति को अनेक बार लिखते हैं। तोल्सतोय ने 'युद्ध और शांति' शीर्षक उपन्यास के प्रारंभिक बारह सौ पृष्ठ सात बार लिखे थे। प्रसाद ने 'आंसू' का संशोधन कई बार किया था, मुन्शी प्रेमचन्द एक अध्याय को लिखने के बाद काफी सुस्ता लेते थे, वर्ड्सवर्थ लिखते समय मुंह से सीटी बजाने के आदी थे, प्रेमचन्द सुंघनी सूंघकर लिखते थे, शैले किसी निर्जन, एकान्त कुंज, सरोवर, घाटी में ही लिख पाते थे; लोनार्दो-द-विंची तूलिका से एक रंग भरने के लिये मिलान शहर से मीलों दूर घूम आते थे, अमृताशेर गिल अपने मॉडेल को अपलक निरखा करती थीं। ये असंख्य उदाहरण बढ़ाये जा सकते हैं। लेकिन अन्य उदाहरण ऐसे भी हैं जबकि कलाकार एक बार लिखने के बाद दुबारा लिखना तो दूर रहा, और दुबारा पढ़ते तक नहीं हैं। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के इस उतावलेपन की शिकायत प्रेमघन हमेशा किया करते थे। बायरन या शैले भी लिखने में असंयमी थे। इसका प्रभाव मुख्यतः शैली के

परिष्कार और विचारों के गठन पर पड़ता है। विभिन्नता को बढ़ाने के लिए हम यह और कहना चाहते हैं कि कई कवि तो पहले गद्य में ही कविता के विचार लिख लेते हैं, जैसे मैथिलीशरण गुप्त, श्याम नारायण पाण्डेय, गुरुभक्त सिंह भक्त आदि। अंग्रेजी साहित्य में जानसन, गोल्डस्मिथ और ब्राउनिंग भी यदाकदा यही करते थे।

वस्तुतः विभिन्न प्रवृत्तियों वाले कलाकारों को विभिन्न पद्धतियां जंचती हैं। इसीलिए सृजन-प्रक्रिया के कोई भी रूढ़ नियम नहीं बनाये जा सकते। स्वतंत्र-साहचर्य की पद्धति से लिखने का सिद्धांत, दिवा-स्वप्नों की उत्तेजना की पद्धति से लिखने का सिद्धांत, चेतना के मुक्त-प्रवाह की पद्धति से लिखने का सिद्धांत आदि नाना सिद्धांत अब निर-प्रचलित और निर-ज्ञातव्य हो चुके हैं। अनुभूति में डूबकर लिखने बजाय अनुभवहीन होकर भी कल्पना द्वारा लिखने की धारणाओं पर शोध-कार्य हुआ है। इस विभिन्नता के बीच तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि *प्राणवत तो 'अवचेतन' ही होता है लेकिन यह भी सत्य है कि चेतन-कार्य* के लिए यह अभिनेता नहीं मात्र सूत्रधार है क्योंकि कला-सृष्टि तो चेतनावस्था में ही होती है। यह स्वयं एक बुनियादी सवाल है।

अवचेतन और प्रेरणा के संबंधों की व्याख्या में वही भेद है जो एक शिशु और उसके नाम में हो। प्रेरणा वस्तुतः अवचेतन का कार्य होती है। आधुनिक मनस्तत्ववेत्ताओं ने इसकी पर्याप्त व्याख्याएं की हैं। रेने वेलेक लिखते हैं—"सृजन के अवचेतन तत्व का परंपरागत "प्रेरणा" नाम स्मृति की पुत्रियों अर्थात् कला-देवियों (म्यूजेस) के साथ क्लासिकल ढंग से संलग्न हो गया है। ईसाई-दर्शन में तो यह दैवी-आत्मा से संबद्ध है। ··· ·· आधुनिक काल में प्रेरणा के लिए बेहद आवश्यक तत्व आकस्मिकता और अवैयक्तिकता है; तब ऐसा लगता है मानो कृतित्व **किसी एक के माध्यम से लिखा गया है।**"[1]

यह 'किसी एक' का अज्ञात या रहस्यात्मक माध्यम ही मन के अवचेतन का रंग-स्थल है। यदि *भावात्मक-प्रज्ञा अकस्मात् तथा तीव्रता के साथ* उत्तेजित कर दी जाए, तो भावावेश की अवस्था आ जाती है। उस समय सृजन के प्रथम चरण के अवसर पर कलाकार में सभी विचारों, इच्छाओं, बिम्बों, संस्मरणों की जागरूकता की गहरी अनुभूति उदित हो जाती है। इसके बाद कर्मेंद्रिया प्रभावित होती हैं और प्रेरणा की अवस्था में वाणी स्वतः निर्झरित हो उठती है और ऐसा भान होता है कि कलाकार स्वयं नहीं बोल रहा है किन्तु बाहर—उसके बाहर से कोई वाणी समा रही है। "प्रेरणा" के पूर्व यह वाणी अज्ञात थी किन्तु यह वाणी अवचेतन की ही वाणी है। पुराने वीर-युग के महाकवि इस वाणी को दैवी संदेशों से जोड़ देते थे। इसीलिए वैष्णवों का विश्वास था कि प्रत्येक भक्त-कवि कृष्ण की वंशी का अवतार है या शैवों की कल्पना थी कि शिव के डमरू से समस्त शब्द उत्पन्न हुए हैं। जब उन कलाकारों की

---

१. रेने वेलेक एवं आस्टिन वारेन : "थ्योरी आफ लिटरेचर" पृष्ठ ८०.

फैंटेसिया और उच्चतर मार्ग पर जीने की आवश्यकताओं और इच्छाओं को पूर्व-चेतनावस्था में स्पष्ट करने लगती थी तब वे तो स्वयंभू, परिभू मनीषी, त्रिकालदर्शी, भविष्य व्याख्याता हो जाते थे और उनके अवचेतन की वाणी 'देव-वाणी' हो जाती थी। अंत:प्रेरणा के महत्तम क्षणों में वे सभी चेतन क्रियाओं से परे एक नया अनुभव करने लगते थे और निराकरण-ज्ञान के अभाव में स्वयं को देवताओं का प्रवक्ता मान बैठते थे। यह अवस्था 'उन्मेष' (एक्सटैसी) की अवस्था कहलाएगी। आनुकारित-महाकाव्यों के कवियों के विषय में तो यह भी एक कड़ी जोड़ी जा सकती है कि उनकी प्रेरणा के मूल में (जुंग की सन्दायनों के अनुसार) 'जातीय-अवचेतन' भी होता है।

जुंग तो अवचेतन को व्यक्तिगत अवचेतन से भी परे ले जाते हैं और पूर्व-मानवीय युगों के साथ जोड़ देते हैं जहाँ अति-मानवीय दुनियाँ का आह्वान होता है। कलात्मक अभिव्यंजना का यह अनुभव समयातीत गहराइयों से निकलता है और अद्भुत स्वप्नों वाला होता है। कलाकार मानव-जाति के आदिम अतीत से सबद्ध हो जाता है। यही आदिम-अनुभव उसके सृजन का स्रोत है और इसीलिए कवि पौराणिक समूर्त्तन विधानों का अवलंब लेता है। सशक्त प्रमाणों से विहीन होने पर भी जुंग की यह स्थापना रोचक रही है। आदिम-अनुभवों के पीछे वे आधुनिक अनुभव भूल जाते हैं तथा सामूहिक अवचेतन के पीछे व्यक्तिगत अवचेतन और प्रेरणा की क्रमश: व्याख्या भुला सी देते हैं। प्रश्न तो यही उठ जाता है कि वे 'जातीय-स्मृतियाँ' वे 'आदिम-प्रारूप' और यह 'सामूहिक अवचेतन' जागृत किस तरह होते हैं? और यदि अवचेतन जागृत होता है तो क्या प्रत्येक प्रेरणा के क्षण में इतनी ही अनन्त दूरी तक पहुँच ही जाता है? कोई प्रयोग या प्रमाण है?

जब कि आज तक भी अवचेतन और पूर्वचेतन के विषय में इतना विवाद है तब जुंग हमें अवचेतन के और भी पहिले पूर्व-मानव-युग में ले जाते हैं। कला की प्रेरणा, खासकर कविता की प्रेरणा, फैंटेसी की दुनियाँ, अवचेतन के प्रांतों से आती है। कम से कम कविता के लिए यह भी कहा जाता है कि जब तक अवचेतन से कोई प्रेरक शक्ति निसृत नहीं होती, तब तक महान कविता की रचना हो ही नहीं सकती। मनोविश्लेषकों ने अवचेतन को भी दो खंडों में बाँटा है— अधिकांश कविता व्यक्ति परक अवचेतन से ही निसृत होती है किन्तु आदिम काव्य जातीय अवचेतन द्वारा निसृत हुए थे। तो क्या अब जातीय अवचेतन नहीं छुआ जा सकता? और फिर व्यक्तिपरक अवचेतन भी दो प्रकार का माना गया है—'पूर्व-चेतन' (जो चेतन होने में समर्थ है) तथा, 'अवचेतन' (जो चेतन होने में असमर्थ है)। जब कलाकार में सृजन के उत्तेजित क्षणों का ज्वार उठता है तब उसे विचार किसी अज्ञात स्थान से आते हुए प्रतीत होते हैं। जार्ज ईलियट ने कहा था कि एडम बीड' लिखते समय मानो किसी अन्य मस्तिष्क ने उनकी कलम पकड़कर निर्देशन किया था। गोएटे ने अपने प्रमुख उपन्यास 'स्वप्निल समाधि' (ट्रान्स) की अवस्था में लिखे थे;

कालरिज ने 'कुब्ला खां' शीर्षक कविता स्वप्न में ही लिखी थी। दुर्भाग्य से हिन्दी-लेखकों के सृजन-प्रक्रिया पर लिखे गए ऐसे संस्मरण लगभग नहीं हैं, किन्तु हमें ज्ञात है कि निराला आधी-आधी रात को जागकर अचानक हंसने के आदि थे और तब कुछ लिख देते थे; अर्द्धस्वप्निलता में रजनी के पिछले प्रहरों में प्रसाद ने कई कविताएं लिखी थीं, 'कश्मीर सुखमा' नामक कविता को श्रीधर पाठक ने अवर्णनीय प्रेरणा से लिखा था; रोमांटिक कवियों ने तो इस प्रकार की रहस्यमूलक पुकारों पर अपनी सच्ची दुनिया ही उजाड़ दी है।

ये अधिकांश दशाएं शुद्ध अवचेतन की नहीं हैं। अधिकतर पूर्व-चेतन के विचार ही चेतन होकर कला में नवोन्मेष प्राप्त करते हैं क्योंकि वे ही चेतन होने में समर्थ हैं तथा कला-सृष्टि चेतनावस्था में ही होती है। हम आधिकारिक रूप से मानते हैं प्रेरणाओं का तात्कालिक स्रोत तो पूर्व-चेतन में होता है किन्तु गहराई और व्यापकता का उद्घाटन करने वाला सूत्रधार अवचेतन होता है और अभिव्यंजना के क्षणों में चेतन सक्रिय होता है। कलाकृति की रचना तो हमेशा ही चेतनावस्था में होती है जब कलाकार एकाग्र तल्लीनता में डूबा होता है। रचना के समय कलाकार कठोर परिश्रम भी करता है और यह अवचेतनावस्था में न होकर चेतनावस्था में ही किया जाता है। फिर उसकी कृति में सांस्कृतिक आदर्श, नैतिक सौंदर्य आदि की सोद्देश्य-दृष्टि समा जाती है। यह भी चेतनावस्था द्वारा ही सम्भव है। अतः असम्य असम्बद्ध, अपरिष्कृत स्मरण, ऐंद्रिक वृत्तियां, बिम्ब आदि कला-कृति में एक उदात्तता और सन्तुलन के साथ अभिव्यक्त होते हैं। यह भी केवल चेतना द्वारा ही सम्भव है। इसके अलावा कला तो प्रेरणा के साथ-साथ कौशल की भी उपज है और कौशल का सम्बन्ध शुद्ध चेतन से है। अतः सृजन-प्रक्रिया में अवचेतन, पूर्व-चेतन और चेतन, तीनों ही प्रकार के मस्तिष्क भाग लेते हैं। हां, यह बात नितांत सत्य है कि सृजन के क्षणों में कलाकार बाह्य विषयों से अधिकतम नाता तोड़कर तल्लीन हो जाता है। एकाग्रता की उस चरमावस्था को कई वेत्ताओं ने 'सक्रिय-निद्रा' कहा है। किन्तु यह वास्तविक निद्रा से नितान्त भिन्न है।

महान् कलाकारों की प्रतिभा की कसौटी कल्पना होती है। जब 'उत्तेजना' (स्टिमुलस) अनुपस्थित रहे, लेकिन उसके प्रति मानसिक-क्रिया होती रहे, तब वह क्रिया कल्पना होगी। कल्पना में पूर्व-अनुभूतियों एवं उनसे सम्बद्ध घटनाओं के बिंबों को संजोया जाता है। अतः कल्पना के हम दो पक्ष: एक पक्ष स्मृति का तथा दूसरा पुनर्निर्माण का होता है। कलाकार के अनुभव जितने ही व्यापक और यथार्थ तथा स्मरण जितने ही सजीव, स्थिर और स्पष्ट होंगे, कल्पना उतनी ही तीव्र होगी। इस स्मृति-बिंबों की मनोवैज्ञानिक रचना के दो-तीन उदाहरण लें: कवि 'घाटी' को देखता है तथा 'बादल' को भी। यदि वह अपने मानस-चक्षुओं में केवल उनकी पुनरावृत्ति करता है तो वह केवल स्मरण कर रहा है और पुनः उसके सामने घाटी और बादल के बिंब बन जाते हैं। लेकिन यदि वह पुनरावृत्ति करने के बजाय एक अभिनव रचना भी करे, तो वह कल्पना होगी। इसी तरह यदि वह घाटी और बादल के संयोग से 'घाटी के बादल'

की रचना करता है, तो वह पुनरावृत्ति न हो कर एक नई रचना अर्थात् कल्पना होगी। पुन कवि 'हंसी' जैसी अमूर्त छवि और मूर्त 'लाल मेघ' को देखता है और यदि उनके संयोग से 'हंसी के लाल मेघ' की रचना करता है, तो यह एक विशिष्ट कल्पना होगी। पुन. वह 'दिल' जैसी अदृश्य अंग-रचना का अनुभव करता है, 'घाटी' को देखता है, 'गुलाबों' को सूंघता है। लेकिन यदि वह 'दिल की घाटी में ज़ख्मों के गुलाब महका' दे, तो यह और भी विशिष्ट कल्पना होगी। अतत: यदि उसने अजंता के भित्ति चित्र देखे हैं किन्तु कुछ भूल-सा चुका है। यदि वह कल्पना द्वारा विस्मृत अंशों की पूर्ति करता है तो वर्णनात्मक कविता या पुनरावृत्त चित्र ही रच पाएगा। अतएव हमने उपर्युक्त उदाहरणों में देखा कि कल्पना की भव्यता और सौंदर्य संयोगों के चयन पर निर्भर करता है और ये संयोग विस्तृत अनुभवों द्वारा ही संचित किये जा सकते हैं। पहले उदाहरण में कल्पना नियंत्रित है, दूसरे व तीसरे में अनियंत्रित और चौथे में केवल पुनरावृत्यात्मक। कल्पना में अभिव्यंजना अकस्मात् आ जाती है तथा कौशल और कला-शैली की कठिन परीक्षा लेती है। शनै. शनैः यह अलंकारों से भी कान्त संयोग कर लेती है। पुनरावृत्यात्मक कल्पना की प्रचुरता हमें इतिवृत्तात्मक काव्यों में मिलती है। कला में कल्पना की एक अन्य विशेषता उस की अस्थिरता है। क्षण-क्षण में नई-नई कल्पनाएं आ जाती हैं और विचारों के उन्मुक्त क्रम को उपस्थित करती हैं। कल्पना तर्क-बहिर्भूत भी होती है। इसीलिए उसमें ऐक केंद्र का अभाव-सा रहता है और उसका नियंत्रण भी बहुत कम किया जा सकता है। सृजन-प्रक्रिया के विशिष्ट क्षणों में यदा कदा तो कल्पना के बिंब इतने स्थिर, विस्तृत, स्पष्ट और प्राणवन्त हो उठते हैं कि कलाकार की ज्ञानेन्द्रियां उनकी अनुपस्थित उपस्थिति का प्रत्यक्षीकरण करने लगती हैं और मस्तिष्क में भी विशेष संवेदना द्वारा उनसे अर्थ का संयोग हो जाता है। ऐसी मनोदशा में कलाकार अपनी कृतियों के पात्रों को देखने लगते हैं, और स्वयं पात्र कथा-सूत्र कलाकार के हाथों में छीनकर अपने हाथों में ले लेते हैं तथा उसे उपन्यासकार की योजना से बिल्कुल जुदा कर देते हैं। चार्ल्स डिकेंस के बारे में यही कहा जाता है। ऐसी सरल समाध्य क्षमताओं में कलाकार अपने विचारों को देखने और उनकी अनुभूति करने लगते हैं। यहां प्रत्यक्षीकरण और कल्पना-धारणा एकात्म हो जाती हैं। प्रत्येक कलाकार के सृजन के क्षणों में कभी-कभी ऐसी अवस्थाएं आती ही हैं।

सृजन-प्रक्रिया में कल्पना और स्वप्न का समानान्तर संबंध है। कल्पना की क्रिया स्वप्न और कला दोनों में ही होती है, केवल उसके स्वरूप में भेद हो जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि स्वप्न उस कल्पना का परिणाम होता है जो परिणाम होता है जो सामान्य बोधों द्वारा संचित होता है तथा कविता उस कल्पना का परिणाम होती है जो परिष्कृत बोधों द्वारा क्रियान्वित होती है। कला की कल्पना में परिष्कृति के साथ साथ चयन भी होता है और इस में एक व्यवस्थित क्रम जैसे संतुलन, अनुपात, समन्वय, समत्व आदि की योजना होती है। यह चयन कला के क्षेत्र में एक बौद्धिक या प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण भी धारण कर लेता है। इसका संगठन भी

स्वप्न की तरह अधिकांशत: अभिव्यक्त और अस्पष्ट न होकर एक कवि की 'ऐच्छिक क्रिया' द्वारा होता है और अवांतर में उस कवि को भी सौंदर्य-बोध निर्धारित करते हैं। इस प्रकार कलात्मक कल्पना के कई सोपान होते हैं जिनमें कवियों की ऐच्छिक क्रिया तथ सौंदर्य-बोध प्रमुख है। इस कल्पना में परिष्कृति और श्रम का समावेश हो जाता है आधुनिक मनोविज्ञान ने तो स्वप्न का सादृश्य न केवल कल्पना की विशिष्ट कि अर्थात् दिवा-स्वप्न से स्थापित किया है, वरन् कला की कृतियों—विशेषतया काव्य— भी किया है। फ्रॉयड के वफादार अनुयायी श्री ओटो रैंक ने इस क्षेत्र में अनूठा का करके यह बताया है कि स्वप्नो का सबध कविता तथा पौराणिक कथाओं से है कलाकृतियो मे जो 'स्वप्निलता' की चर्चा की जाती है—उनको जो 'स्वप सदृश्य और अबौद्धिक कहा जाता है—उसके मूल मे मानवजाति की आदिम स्वप्नव पौराणिकता, 'आर्केटाइपल' प्रतीकात्मकता और साम्यसौदर्य की धाराएं घुली मिल होती है। वीर-युग की कविताओ मे हमें स्वप्नो के अद्भुत ससार यथार्थ-धरात पर अभिप्रेक्षित मिलते है। बाद की कृतियो में भी यही क्रम चलता रहा है जिस स्वप्नद्रष्टा की तरह कवि भी शैशव की ओर प्रत्यावर्तन करता है, सत्ता के जुए उतार फेंकता है और अपनी वैयक्तिकता की पुष्टि करता है। कालिदास का 'मेघदू एक स्वप्नवत् कृति है, कालिदास की अप्सराएं शैशव की मधुरताओं का प्रतिबिंब हैं। इटैली के महाकवि दान्ते के महाकाव्य मे स्वर्ग और नरक की यात्राएं भी उनके स्वप्नो के ससार को साक्षात् करती है। भारतेंदु कीकृतियो मे यमुना वर्णन औ श्मसान वर्णन, प्रसाद की 'कामायनी' मे हिमालय के आनंद लोक का वर्णन, निराल के 'तुलसीदास' में तुलसीदास का गगन-विचरण वस्तुत कवियो के स्वप्नो क यथार्थ धरातल प्रदान करते हैं और यही उनकी महानता है।

चार्ल्स बावडिन कहते हैं कि "जागृत जीवन के बीच, कल्पना के क्षेत्र में, (स्वप के) वे वही नियम क्रियान्वित होते हैं। इस हालत में उनका कार्य व्यापार कुछ अ ढंग से गोपनीय हो जाता है। यह अपेक्षाकृत कम सरल होता है क्योंकि ऐच्छिक औ बौद्धिक क्रियाओ द्वारा इसका पर्याप्तांश तटस्थ बना दिया जाता है। इसलिए य आवश्यक है कि हम अपना कल्पना का अध्ययन स्वप्न से ही शुरू करे जहां इस शुद्ध रूप मिलता है। यह कार्यान्वित कर लेना ही फ्रॉयड की महान सेवा थी, चा उनकी शेष शिक्षाओ के बारे में हम जो कुछ भी सोचें।"[1] बावडिन ने कल्पना औ स्वप्न के नियमों में समानता स्थापित करके सौंदर्य-विवेचन को नई दृष्टि प्रदान की।

मनोविश्लेषकों ने विज, मौरी, रॉबर्ट, डेलेज के स्वप्न सबधी दैहिक सिद्धा की कड़ी को आगे बढ़ाया। फ्रॉयड ने स्वप्न का सबध मानव-स्वभाव अथवा प्रवृत्ति से जोड़ा और इन्हें 'इच्छा पूर्ति' का साधन माना। जब यह प्रश्न उठाया गया दुःख भरे स्वप्नों से इच्छापूर्ति किस प्रकार होती है तो फ्रॉयड ने सशोधन करते ि दिया कि स्वप्न के अधिकांश दुःखद अनुभव 'अव्यक्त विषय' के विकृत-रूप होते

१. चार्ल्स बावडिन "साइको एनालिसिस एंड ऐस्थेटिक्स" पृष्ठ २५

तथा इनमें भी इच्छापूर्ति होती है किन्तु अब यह 'अचेष्ट' इच्छापूर्ति हो जाती है। ये स्वप्न वास्तव में अवगुंठित इच्छाएँ हैं जो अतृप्त भी हैं अर्थात् जिनकी संतुष्टि नहीं हो सकती। इनमें मूलतः काम-वृत्ति ही होती है जो अवचेतन में दमित तथा सुषुप्त रहती है किन्तु स्वप्नों में अभिव्यक्त हो जाती है। यहां फ्राएड ने स्वप्नों को भी काम वृत्ति से चिपका दिया। एडलर ने केवल काम-वृत्ति के दमन को ही स्वप्नों का कारण न मानकर मनुष्य की आत्मस्थापना की वृत्ति को भी माना। उन्होंने फ्राएड की तरह स्वप्नों का संबंध अतीत से न जोड़कर भविष्य से जोड़ा। जुंग ने फ्राएड की काम वृत्ति और एडलर की आत्म-स्थापन–वृत्ति की एकांगिता को अधिक विस्तार देते हुए जीवन-शक्ति (जनरल वाइटल एनर्जी) प्रबलतम वृत्ति माना जिसके अंतर्गत काम-वृत्ति, आत्म-स्थापन-वृत्ति, सौंदर्य-वृत्ति, नैतिकवृत्ति आदि अनुदित होती रहती है। स्वप्न की ये इच्छाएं अवचेतन में अपने नग्न रूप में संचित रहती हैं और "स्वप्न-कार्य" द्वारा परिमार्जित होकर प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती है। जुंग केवल अवचेतन में ही दमन की स्थिति को नहीं स्वीकार करते हैं। वे व्यक्तिगत् अवचेतन से आगे सामूहिक अथवा जातीय अवचेतन में भी उनकी स्थिति स्वीकार करते हैं। इसी बिंदु पर आकर स्वप्न में प्रयुक्त कल्पना मिथकशास्त्र से घुलमिल जाती है। अतीत के जादूभवनों से भी जुंग ने स्वप्न को बाहर निकाल कर वर्तमान की कर्म-भूमि में आसीन किया।

अवचेतन में दमित इच्छाओं का परिमार्जित होकर अभिव्यक्त होने के नियम के अलावा स्वप्न संबंधी एक दूसरा नियम विषय का भी है। स्वप्न के दो तत्त्व होते हैं,—'व्यक्त विषय' तथा 'अव्यक्त विषय'। व्यक्त विषयों का वर्णन (विकृत रूप में) जागने पर किया जा सकता है किन्तु अव्यक्त-विषयों को स्वतंत्र-साहचर्य की पद्धति से विश्लेषण द्वारा ही जाना जा सकता है। यही स्वप्न के वास्तविक तत्वों का द्योतक हैं, यही वे अव्यक्त इच्छाएं संचित हैं जो स्वप्नों का कारण बनती है। कला भी अवचेतन की अभिव्यक्ति मानी जाती है, स्वप्न भी। कला में दमित इच्छाएं परिष्कृत होकर सौंदर्य वसन पहनती है, स्वप्न में भी वे परिमार्जित होती है। कला–विशेषकर कविता–प्रतीकात्मक होती है, स्वप्न भी प्रतीकात्मक होते है। कला के प्रतीक भी स्वप्न-प्रतीकों की तरह कलाकार अथवा स्वप्न द्रष्टा के अवचेतन की सजग या अजान अभिव्यक्तियां होते है। स्वप्नों के लिए जो कुछ 'स्वप्न-कार्य' द्वारा होता है, कला के लिए वही दिवा-स्वप्नों द्वारा होता है। इन दिवा-स्वप्नों का स्वप्न के प्रथम अंग अर्थात् निद्रा से कोई संबंध नहीं है, लेकिन व्यक्त तथा अव्यक्त विषयों की रचना में ये स्वप्नों के नन्हे 'मॉडल' है। अतः "प्रतीक" ऐसा संधि-स्थल हैं जहां कलाकार की कल्पना और स्वप्नदृष्टा की कल्पना में सादृश्य-सा हो जाता है। प्रतीक दोनों में ही कल्पनाप्रवण-क्रिया के सारतत्व होते हैं।

स्वप्नद्रष्टाओं व कलाकारों के लिए यह प्रतीक का सिद्धान्त कई मनोवैज्ञानिक सत्यों पर जोर देता है। यदि कलाकार प्रतीकों के माध्यम से सजग होकर सोचता है तो ठीक है। यदि इस प्रकार नहीं सोचता, तो भी ठीक है क्योंकि उसके अवचेतन की अभिव्यक्तियां स्वयं प्रतीक होती हैं। चार्ल्स बाडविन इस ओर अवश्य ध्यान दिला

देते हैं कि कभी कभी यह सिद्धान्त असंगतता और पूर्वाग्रहता का औचित्य सि
के लिए प्रयुक्त होता है। अतः हमें इसमें निहित मनोवैज्ञानिक सत्यों पर ह
देना चाहिए।

प्रतीकों के विषय में अर्नेस्ट जोन्स कहते हैं :—"मनोविश्लेषण-कार्य में
बाद महत्वपूर्ण है। "प्रतीक" का तात्पर्य चेतन में स्थित एक विचार से
अवचेतन में स्थित अन्य विचार का प्रतिनिधित्व करता है या उस के महत्व का
करता है। मनोविश्लेषकों के अर्थों में प्रतीक एक अवचेतन-विचार के लिए
विकल्प मात्र है और इस प्रकार वह उपमा तथा रूपक की पद्धति से नितान्त भि
अधिक से अधिक अवचेतन में ऐसे सौ विचार ही सीमित हैं जिनका प्रतीकि
सकता है।"[1] इस प्रकार कोई भी प्रतीक "शुद्ध" नहीं होता, वह हमेशा कि
वस्तु का हवाला देता है वह प्रयुक्त दूसरी वस्तु के लिए होता है और
आशय दूसरा होता है। जैसा कि हम पहिले भी कह चुके हैं, मनोविश्लेषण
प्रतीकों का भाग्य निर्णय कर दिया है। यात्रा मृत्यु का, पानी जन्म का, राज
माता पिता के, कपड़ा नग्नता का, पहाड़ की चोटी अथवा सीढ़ी की चढ़ाई मै
कमरा गर्भ का प्रतीक है, आदि। यदि कोई चित्रकार अजंता के गोल भित्ति
चित्रांकन करता है तो वह अपनी यौन-वृत्ति तृप्त करता है क्योंकि गोल द्वार
के गुप्तांग का प्रतीक है। काल्विन एस० हाल ने हाल में ही फ्रॉयड के प्र
गणना करने बाद बताया है कि उन्होंने पुरुष जननेंद्रिय के लिए १०२,
गुप्तांग के लिए ६५ तथा मैथुन क्रिया के लिए ५५ प्रतीकों की योजना की है।
पहला प्रश्न यही है कि विभिन्न संस्कृतियों और वातावरणों में पले संस
मानव-समूहों के लिए ये सकुचित प्रतीक कैसे सार्वभौमिक हो सकते हैं? क
यौन-प्रतीकों की ही बहुलता रहती है? क्या इनके अर्थों पर स्वयं मनोविश्ले
एकमत है? तीनों ही उत्तर नकारात्मक होंगे। एक ही स्वप्न की व्याख्या
जुंग और एडलर तीन भिन्न तरीकों से करेंगे, तो मीड, कार्डिनर व
दूसरे ढंग से। अतः समाज-शास्त्री मनोविश्लेषकों का सतुलन ही हमें कुछ स
कर सकता है। जैसे, यदि गुफा-मनुष्य किसी पशु की हत्या करता था तो
विश्वास था कि यह किसी जादू के प्रतीक का ही परिणाम है। इसीलिए वह
की दीवारों पर पशु-आखेट व हत्या के चित्र अंकित करता था। अतः उस युग
का उद्देश्य इच्छा का यथार्थ के साथ तादात्म्य स्थापित करना था। बाद में ह
बाद ये गुफा-चित्र टोटेम-पशुओं या निषिद्ध रीतियों के प्रतीक होते च
सभ्यता के विकास के बाद पौराणिक-युग में, और विशेषकर चरित काव्यों में
तो प्रतीकों का उपयोग 'विरोधों' की अभिव्यक्ति के लिए होता था— महत्
भाषण, महत् परिवार, महत् प्रेम के प्रतीक पात्र या परिस्थितियां एक ओर रह
उनके विरुद्ध निकृष्ट कार्य, निकृष्ट भाषण, निकृष्ट परिवार, निकृष्ट प्रेम के प्र
या परिस्थितियां दूसरी ओर। महाभारत और रामायण की सर्वप्रथम कल्पनाओं

1. अर्नेस्ट जोन्स : "व्हॉट इज सायको एनालिसिस".

प्रभावान्विति थी। अतः यदि कोई सार्वभौम भाषा थी तो वह प्रतीकों की भाषा (कोपदीय प्रतीकों की नहीं) ही थी।

कला के—विशेषत काव्य के—प्रतीक (स्वप्नों के प्रतीकों की ही तरह) द्वन्द्व की स्थिति के बीच से उभरते हैं इसलिए वे कई उलझी समस्याओं को सुलझा देते हैं। इस बिन्दु पर कला का प्रतीकात्मक पक्ष खुलता है क्योंकि यह असन्तोष की स्थिति और अनुभवों का अतिक्रमण करने की दशा होती है। रोमांटिक-काव्य का सारा प्रतीक-विधान व्यक्तिवादी है और इसी तत्व पर आधारित है। द्वन्द्व या संवेग का वास्तविक विषय अवचेतन में अवगुंठित रह सकता है किन्तु उसकी संवेदना और अनुभूति तो होती ही रहेगी, और कला में अन्तिम अभिव्यक्ति होगी। उसके माध्यम प्रतीक बन जाएंगे। अतः जब कभी कल्पना की मुक्त-उड़ानें शुरू होती हैं, जब हम दिवा-स्वप्नों में डूब जाते हैं, तब हमारी भावनाएँ प्रतीकों का ताना बाना बुनने लगती हैं। इसके विपरीत कोई जब ऐसा विशिष्ट युग होता है कि जहाँ इस प्रक्रिया पर अहं का नियन्त्रण सर्वाधिक रहता है जैसा कि क्लासिकल युगों में होता है - तब ये प्रतीक 'व्यापक' हो जाते हैं और उन्हें व्यापक जन-समुदाय परंपराग्राही-बोधों के माध्यम से समझ लेते हैं। ऐसी स्थिति तीव्र सन्तुष्टि की भी होती है और तब कला का प्रतीक-पक्ष के साथ साथ सौंदर्य-पक्ष भी खुलता है।

अब हम इस स्थिति में हैं कि प्रतीकों की श्रेणियाँ विभाजित कर लें। ये दो हैं —

(क) व्यापक प्रतीकात्मकता, जब कि अहं का नियन्त्रण बहुत अधिक होता है और कलाकार केवल पुनर्विधान करते हैं।

(ख) वैयक्तिक प्रतीकात्मकता—जब कि अहं का नियन्त्रण बहुत कम होता है और कलाकार अपनी पुनर्रचना करते हैं।

यदि इन प्रतीकों की सभी श्रेणियों और उपयोगों का वर्णन किया जाए तो वह मानवीय विचारों और विश्वासों और बोधों का एक बृहत्तर इतिहास ही बन जाएगा। अतः हम प्रवृत्तियों पर ही अधिक ध्यान देंगे। व्यापक प्रतीकात्मकता का सम्बन्ध समाज की अजस्र प्रवाहिनी परंपराओं, पौराणिक कथाओं और रीति-रिवाजों से होता है। शताब्दियों से इनकी अभ्यस्त जनता इन्हें अक्षरश: सत्य मानती रही है (वैज्ञानिक खंडनों के पूर्व तक)। हमारे सांस्कृतिक जीवन में ये निम्नांकित श्रेणियों के हैं—

(क) हिन्दू, बौद्ध, जैन और मुसलमान (विशेषकर सूफी) पौराणिकता के प्रतीक

(ख) इनकी सीमाओं से परे अति प्राचीन अन्धविश्वासों के प्रतीक

(ग) नई शती की खोज के पूर्व की कल्पना और रोमांस से पूर्ण यात्रा-कथाओं के प्रतीक

सम्पूर्ण कलाओं के 'कला-प्रयोजन' तथा 'कथानक-रूढ़ियाँ' इनके चारों ओर सजाई जाती रही हैं। अति प्राचीन अतिविश्वासों की कोटि में वैदिक और प्राग्वैदिक प्रतीकात्मकता आएगी जब अग्नि, विद्युत्, वरुण, मेघ, वायु आदि अलौकिक दैवी शक्तियों के प्रतीक थे। कालान्तर में उनका विकास हुआ और इन्द्र वर्षा के लिए, पर्जन्य यौन-उर्वरता के लिए, मरुत वायु के लिए प्रतिष्ठित हुए। मिथकीय प्रतीकों का

धारण करते है। रोमांटिक आंदोलन के समारम्भ होने पर स्वीकृत प्रतीक अपनी सार्वभौमता खो देते हैं और सामान्यता के स्थान पर वैयक्तिकता ग्रहण कर लेते हैं। इस युग में पूरा का पूरा काव्यांदोलन "रोमांटिक-वेदना" को धुरी बनाकर चलता है और प्रतीक अधिकतर कवि की मनोदशाओं को व्यक्त करते हैं। ये प्रतीक अंतर्मुखी होते है और बहुधा इनके पार्श्व-अनुभव गुंजनात्मक की अपेक्षा सौन्दर्यात्मक होते है। छायावादी कवियों ने प्रतीकों का अनुसन्धान किया और परम्परागत प्रतीकों का परित्याग किया। आन्तरिक मनोदशाओं को व्यक्त करने में अभा प्रसाद के लिए, बादल-गर्जन निराला के लिए, रेणु महादेवी के लिए लगभग एक ही मनोदशा के प्रतीक है। वीणा, मधुप, दीप, नक्षत्र, नौका, बुदबुद, इन्द्रधनुष, छाया, स्वप्न, विध आदि कुछ विलक्षण छायावादी प्रतीक है, जिनको प्रत्येक कवि ने अपनी अन्तर्मुखता के अनुसार ग्रहण किया है और जिनके माध्यम से इन कवियों की रोमांटिक-पीड़ा की मीमांसा की जा सकती है। यह रोमांटिक-वेदना मात्र सौंदर्यात्मक (सिम्बेटिक) थी; इसका मोल साहित्य में अधिक और जीवन में कम था, इसका पक्ष रचनात्मक कम और निर्माणात्मक अधिक था।

बाद के 'प्रयोगवाद' तथा 'प्रतीकवाद' के भ्रम नामों से अभिहित किये जाने वाले साहित्यिक आंदोलन में प्रतीकों का पुनर्जन्म-सा हुआ है। एक ओर तो इनके प्रतीक वैयक्तिक हैं जो अब रोमांटिक वेदना के बजाय गत-श्री होते हुए मध्यम वर्ग की [illegible] का बोध प्रकट करते हैं, तो दूसरी ओर ये [illegible] भी हैं। फ्रायड के यौन-प्रतीकों का जितना बहुस्पर्शी ग्रहण इस आंदोलन ने किया है उतना तो 'काम शास्त्र' के प्रणेता मुनि भी नहीं कर पाते। इन दो धाराओं पर ही इसकी सारी प्रतीकात्मकता का ढांचा बंधा है। इसके अलावा विचारों के क्षेत्र में अस्तित्ववादी दर्शन के कुछ सिद्धांत भी कुछ प्रतीकों द्वारा व्यक्त किये जा रहे हैं जैसे 'ऊब' 'अभिशाप,' 'दर्द,' 'धुरी', 'लघुता' के इर्द गिर्द ही ये कवि अपने अस्पष्ट विचारों का इन्द्रजाल बांधते हैं।

स्वप्न या फैंटेसी, चाहे जो भी [illegible] [illegible] 'सुख-निष्पत्ति और दुख-बहिष्कृति' पर आधारित मानता है। [illegible] की मनोविश्लेषण इसी 'सुख सिद्धांत' द्वारा संचालित होती है क्योंकि [illegible] [illegible] की [illegible] पूर्ति सुख देती है और मन को संतुष्ट एवं विश्रमित करती है। [illegible] के अलावा मानसिक सुख और अन्य [illegible] [illegible] है कि [illegible] [illegible] कर दिया है। यदि सुख न [illegible] [illegible] यथार्थ की आवश्यकताओं के अनुसार [illegible] है और [illegible] 'यथार्थ सिद्धांत' द्वारा किया जाता है अर्थात् कुछ सुखों का [illegible] [illegible] कर दिया जाता है या [illegible]। इस प्रकार [illegible] [illegible] [illegible] "[illegible]" हो जाता है और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की

ओर गमन एक महत्वपूर्ण मच्चाई पेश करता है अर्थात् यथार्थ-सिद्धांत की ओर वह को उन्मुख करने वाली स्व-प्रेरणाएं नहीं, किन्तु विवश आवश्यकताएं हैं। इस सारी विवृत्ति के पीछे हम अरस्तू के 'कैथार्सिस' के सिद्धांत की छाप पाते हैं। हां, फ्रॉयड इसके द्वारा सारी की सारी सृजन-प्रक्रिया और कला को पलायनवादी बनाने की चेष्टा करते हैं। कला को वे यथार्थ-परीक्षा मे छूट दे देते हैं किन्तु हम जानते हैं कि महान कला और कलाकारो ने सहर्ष ही अग्नि-दीक्षाए ली हैं। वे यथार्थ की ओर सुख प्राप्त करने अथवा दुख मे भागने के लिए नही उन्मुख हुए है प्रत्युत उच्चतर मानवीय आकांक्षाओ और सामाजिक-सुखो ने उन्हें प्रेरित किया है। उनके लिए कला केवल फैंटेसियों की दुनियां की सुख-प्राप्ति नही रही है। वास्तव मे फ्रॉयड ने पलायनवादी अर्थात् जिन्दगी का इनकार करने वाले तथा यथार्थवादी अर्थात् जिन्दगी का इकरार करने वाले कलाकारों के बीच कोई भी भेद नही माना। शायद ये 'सिद्धात' सामान्य और औसत दशाओ मे लागू हो सकते हों, लेकिन सृजन-क्रिया के लिए ये सार्वभौम तो क्या, अंशतः ही ग्राह्य होंगे।

सृजन-क्रिया को **'मुक्त-साहचर्य की पद्धति'** से भी काफी सुलझाया जा सकता है। इस क्षेत्र मे ब्राउन एव केटेल (cattell) के प्रयोगों तथा मनोविश्लेषण की पद्धति ने कई नियमो का अन्वेषण किया है। कलाकार के मस्तिष्क की अन्दरूनी वृत्तियां तथा उसकी कल्पना के अध्ययन मे यह ढग एक अद्भुत कड़ी जोडता है। यहा हम आरभ मे ही दो बातें स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि साहचर्य प्रत्यय-चिंतन (रिफ्लेक्शन) से नितात भिन्न हैं। इसमें धारणा (कान्सेप्शन), प्रत्यक्षीकरण (पर्सेप्शन) और फैंटेसी का सगम होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के अनुरूप यह बदलता भी है।

सृजन-क्षणों मे अवचेतन की तमिस्राओं से निकलकर हमारे मस्तिष्क में विचार तैरने लगते हैं अर्थात् उस समय उनमे कोई भी प्रत्यचिंतन और सूझ-समझ नही होती। ये तैरते-विचार कवि के मानस में प्रवाहित होते रहते हैं, लेकिन जब फैंटेसी अपने नियंत्रण तथा पैटर्नों का ताना-बाना बुनती है तो ये बिम्बों में स्थिर (फिक्स्ड) हो जाते हैं। जितने अधिक काव्यात्मक बिम्ब होंगे, उतने ही अधिक ये तैरते-विचार! काव्य मे इन विचारों को थोड़ा सा नियन्त्रित और परिमार्जित कर दिया जाता है—। जब एक अन्तर्धारा बह उठती है तब शब्द, बिम्ब, कल्पनाएं मस्तिष्क मे घुमड़ पड़ती हैं; उनमें संवेगों की 'घनुनावित होती है और वे बहुसंख्यक प्रसंगों की राशि बटोर लेते हैं। अस्तु जिस कलाकार की जितनी गहरी अनुभूतियां, व्यापक अनुभव, अनुदिक सस्मरण, नाना रुचियां होंगी, उसकी कला मे साहचर्य उतने ही वैभवशाली होंगे।

इनके आदान और प्रत्यादान के भी सामान्य नियम होते हैं। समानता के नियम के अनुसार किसी एक अनुभूति के प्रस्तुत होने पर किसी एक गुण या अन्य कई गुणों मे

समान वस्तुओं का स्मरण होने लगता है; जैसे, कृष्ण का नाम लेते ही घनश्याम, मेघ, यमुना आदि का साहचर्य हो। विरोध के नियम के अनुसार एक अनुभूति की उपस्थिति से कई द्वन्द्व-समासव्रती विरोधी अनुभूतियाँ याद हो आती हैं। जैसे सुख-दुःख, अश्रु-हास, दिन-रात आदि। स्पष्टता के नियम के अनुसार अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट प्रभाव और अनुभूतियाँ मस्तिष्क में बहुत दिनों तक स्थिर रहती हैं और उनका प्रत्याह्वान भी अक्सर होता रहता है। जैसे, प्रसाद के 'रजनी के पिछले प्रहर', महादेवी के दीपक, पंत के भ्रमर आदि ऐसे ही साहचर्य हैं। इसलिए सृजन-क्रिया में कलाकार पर पड़े तीव्र प्रभावों तथा संवेदनापूर्ण संस्मरणों के कारण ही अभिव्यंजना का सौंदर्य और बिम्बों का ऐश्वर्य मिलता है। सृजन के प्रारम्भिक क्षणों में कोई एक उत्तेजना—एक शब्द अथवा एक विचार के रूप में—इस साहचर्य की शुरुआत करती है। फलतः कलाकार की संवेदनात्मक आवश्यकताएँ उद्वेलित हो जाती हैं और वह साहचर्यों के इन्द्रजाल में बँध कर प्रबलतापूर्वक प्रेरित हो उठता है। शनैः शनैः संवेगात्मक-घटनाएँ भी आने लगती हैं जिनके द्वारा ही प्रारम्भ में किसी द्वन्द्व की सृष्टि हुई थी, फिर इसके बाद जकड़े हुए विचार मुक्त होने लगते हैं। अतः कोई एक विचार, शब्द, संख्या, बिम्ब ही इस साहचर्य-निर्झर का उत्स खोल देता है जिससे मस्तिष्क में मूल उत्तेजना से संलग्न अनेक विचार बह उठते हैं। जब वे रिक्त हो जाते हैं तो प्रेरणा के उदात्त क्षणों में फिर कोई नई उत्तेजना एक नया आघात उत्पन्न करती है और पुनः उससे संलग्न अनेक विचार साकार हो उठते हैं। इस प्रकार यह क्रम चलता है। कल्पना कीजिए कि प्रसाद को 'कुरंग' शब्द याद हो आता है। साहचर्य द्वारा इसका विकास होता जाएगा और कस्तूरी, गंध, वन, पर्वत, हिमालय, आदि से संलग्न बिम्ब आ जाएंगे। भारतेन्दु के मस्तिष्क में यदि 'अवनी' शब्द की उत्तेजना शक्ति प्रदान कर दी जाए तो निस्सन्देह उसमें साहचर्य द्वारा भारत, विक्रमादित्य का शासन, उज्जयिनी, काशी, अतीत का गौरव आदि कितने ही विचार दीप्त हो उठेंगे। ये दो उदाहरण इस क्रिया के विकास को स्पष्ट करते हैं और नियमों को भी फलित करते हैं।

धूमिल की 'पटकथा', नरेश मेहता की 'समय देवता!', सौमित्र मोहन की 'लुकमान अली' और श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' शीर्षक कविताओं को हम मुक्त साहचर्य के उत्तम उदाहरण मानते हैं। अतः इनकी समीक्षा उपादेय होगी।

'काश्मीर सुषमा' में उत्तेजित करने वाला भाव "सौंदर्य" और वातावरण काश्मीर की प्रकृति है जो ज्ञानवाही स्नायुओं में गतिशीलता उत्पन्न करती है। यहाँ काश्मीर के सौन्दर्य के बीच सँजोई गई सौंदर्य की क्रिया ही दूसरी है। यहाँ उत्तेजनाओं (स्टिमुलाइ) की कई तरंगें हैं और प्रत्येक तरंग तब तक मस्तिष्क के सभी संलग्न विचारों को उन्मुक्त करती जाती है, जब तक वह अपनी सभी क्षमताओं का व्यय नहीं कर देती। यहाँ तीन उत्तेजना-केन्द्र स्पष्ट विभाजित किये जा सकते हैं—प्रकृति-नायिका का मदनोन्मत्त शृंगार; हिमालय और शंकर का संसार, काश्मीर और स्वर्ग की समानता। प्रथम केन्द्र प्रकृति-नर्तकी का पल पल परिवर्तित वेश, अतः शारीरिक

चेष्टाएं, सरोवरों के दर्पण में छवि-दर्शन, चन्द्रहार और मुक्ताहार जैसे हिमाल
शृंगार उपस्थित करता है। दूसरा केन्द्र चन्द्रमा समान शिखर-श्रेणियों और हि
साहचर्य से गौरी का बिम्ब, शिव के त्रिशूल का आर्केटाइपल बिम्ब प्रस्तुत कर
तथा भावोन्मेष के कारण उत्प्रेक्षाओं की झड़ी और शृंगार की चपलप्राण प
करता है। तीसरा केन्द्र हिमालय के साथ हिन्दू पौराणिकता के सम्बन्ध के
धार्मिक उत्प्रेक्षाओं की कड़ियाँ जोड़ता है, शिव की अनेक पौराणिक कथाओं के
का बखान करता है। एक समानान्तर उप-केन्द्र हिमालय-सौंदर्य और सुर-शान्ति
समानता सुर-कानन से स्थापित करता है एवं पुरन्दर, अमर देवताओं से स
जोड़ता है।

इसी प्रकार एक व्यापक 'कैनवेस' में नरेश मेहता की 'समय-देवता !'
कविता उभरती है। काल और स्थान के अक्षों में समय-देवता अतीत, वर्तमान
भविष्य तीनों कालों में यात्रा करता है और उसका पथ प्रदर्शन स्वयं कवि अर्थवा
की फैंटेसी—करती है। असम्य अपूर्ण, असबद्ध, किन्तु मधुर सौंदर्यशालिनी तरं
इस कविता को सरोबार किया है। पाँचों द्वीपों में समय-देवता की यात्रा क
दिवा-स्वप्न खिंच गया है जो भूगोल, इतिहास, कला, संस्कृति और समाज का
संसर्ग तथा कवि के मस्तिष्क की आन्तरिक वृत्तियों का उद्घाटन करता है।
असम्य तैरते हुए विचारों को फैंटेसी ठीक से नियन्त्रित और व्यवस्थित नहीं क
है प्रेरणा की प्रबलता के कारण। बिम्बों की अतुल राशि बिखेरती हुई यह कवि
दिवा-स्वप्न की पूर्ण रचना है जहाँ दृष्टि-बिम्ब, श्रवण-बिम्ब, गंध-बिम्ब, स्पर्श-
स्वाद-बिम्ब तो हैं ही, 'स्मृति-बिम्बों' ने भी अद्भुत जादू फूका है। इन स्मृति-
के सहारे ही हम स्थानों और समयों का प्रत्याह्वान और भावी आह्वान करते हैं।

जब स्मृति-बिम्ब दिवा-स्वप्नों की क्रिया-शक्ति से मिलते हैं और फैंटेसी
रीति से नियन्त्रित हो जाती है तब हमें आत्मनिष्ठा और अन्तर्मुखीनता के
चित्र मिलते हैं। 'प्रलय की छाया' (प्रसाद) में रानी कमलावती का अपने
का आत्म-रति-प्रवण स्मरण तथा 'राम की शक्ति पूजा' (निराला) में
जानकी-स्मरण-प्रसंग अद्भुत उदाहरण हैं—

> याद आया उपवन
> विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
> नयनों का,—नयनों से गोपन-प्रिय संभाषण,—
> पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन—
> काँपते हुए किसलय,—झरते पराग-समुदय,
> गाते खग नव जीवन—परिचय,—तरु मलय-वलय,—
> ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,—

'समय-देवता !' की यात्रा समय रूपी कला-यात्री की यात्रा है जिसे फैंटेसी का रूप कवि निर्देशित करता है। उत्तेजना की पहली तरग में नरेश मेहता के चिर-परिचित ढग का नवीन चित्रण होता है और एक उप-तरग तुरन्त ही यहाँ के प्रांतों में रस देशों की ओर उतार ले चलती है तथा यौवन की भूमि सोवियत भूमि में ले जाती है जहाँ नई मानवता नई श्रम-संस्कृति ढाल रही है। दूसरी तरग चीन ले जाती और उसकी प्राचीनता तथा नवीनता का द्वन्द्व उपस्थित करती है। तीसरी तरग जापान ले जाकर युद्ध और हिंसा के परिणामों का दर्शन कराती है।··· फिर तिब्बत ····फिर भारत एव उसका सांस्कृतिक सौंदर्य तथा वर्तमान संघर्ष चित्रित होता है। ····फिर अमेरिका—एक पूँजीवादी सभ्यता ·। फिर तीसरा महाद्वीप यूरोप आता है। शेक्सपियर का देश अपनी कला और राजनीतिक चेतना के चित्र सँजोता, तो फ्रांस का नृत्योन्मादपूर्ण जीवन रोमांटिक रंगीनियों में मुग्ध कर देता है। ····फिर स्विट्जरलैंड ·· फिर जर्मन-प्रदेश-बर्बर नाजियों का देश ··· फिर रूसी—लेनिन ····वहाँ की मधुर युवतियाँ · ·। चौथा महाद्वीप अफ्रीका पुराने पिरैमिडों के रेतीले मिस्र के साथ साथ श्वेत-श्याम के युद्ध का रणस्थल भी बनता है। पाँचवाँ द्वीप आस्ट्रेलिया अपनी भेड़ों के ऐश्वर्य को प्रस्तुत करता है। ·····अन्तत हरिगिधुओं का आह्वान करते हुए कवि नये मनुष्य की सचरणशीलता, शान्ति-पूजा का संदेश-वाहक हो जाता है। यहाँ प्रस्तुतीकरण की समग्रता और कई संवेदनाओं की संसूचना जेस्टॉल्टवादी मनोवैज्ञानिकों की स्थापना का भी समर्थ प्रमाण है। एक बात और। गोल्डस्मिथ कृत 'ट्रैवेलर' के दिवा-स्वप्न के कई तत्वों के यह कविता सन्निकट है।

सैमुएल कालरिज की 'द रिमेंट मेरिनर' शीर्षक कविता की चर्चा किये बिना सारी साहचर्य-समीक्षा अधूरी-सी रहेगी। यहाँ कवि का चेतन 'अपराध' और 'दड' द्वंद्वों को उपस्थित करता है तो अवचेतन अतिप्राकृतिक घटनाओं का सयोजन करता है। सी० एम० बोवरा ने इस कविता के छै स्पष्ट खड किए है। प्रथम खड में मल्लाह ईश्वर के दूत एल्बाट्रास पक्षी की हत्या का अपराध करते हैं। दूसरे खड में वे दड भोगते हैं जिसके फलस्वरूप ससार प्यास और मृत्यु की लपटों में घिरता है। तीसरे खड मे अपराधी आत्माएं अपराध का अनुभव करती है। चौथे खड में मल्लाहों की एकान्त वेदना गहराती जाती है। पाचवें खड मे उनकी आत्मा का पुनरुत्थान होता है और स्वर्गीय आत्माए मृतकों का उत्थान करती हैं। छठवें खड में उनके अपराधों का निवारण हो जाता है। पूरी कविता में एक अपराधी आत्मा और आध्यात्मिक शक्ति के बीच अतर्युद्ध चला करता है जो वस्तुत कवि के ही अतर्जगत का चित्र है। इसमे कालरिज आध्यात्मिक रहस्यवादी एव कवि, दोनों ही स्वरूपों में उभरते है। अतिप्राकृतिक घटनाओं ने फैंटेसी-रचनाओं को प्रेरित किया है, तो 'अपराध' एव 'दड' की विपथगा ने उन संवदेनात्मक भावों का आह्वान किया है जिनके कारण द्वद्व उत्पन्न हुआ है। कवि की सृजन-प्रक्रिया में

एक अपराधी भावना व्याप्त-सी है। यहां नैतिक मन और इदम् की द्वंद्वीय स्थिति का सम्यक् रूप प्रस्तुत हो जाता है।

अंत में सृजनकार और सृजन-क्रिया के प्रमुख संबंधों और विचारों की मीमांसा के बाद हम तीन दृष्टियां पाते हैं :—एक, इनके द्वारा कलाकार की जीवनी का ज्ञान होता है, दो, कलात्मक समस्याओं का समाधान मिलता है और तीन; कलाकार की कल्पना का अध्ययन होता है। अर्नेस्ट क्रास के शब्दों में "अपनी कृति से कलाकार का संबंध जटिल और भेदपूर्ण होता है। कई विलक्षण उदाहरणों में तो कृति उसके 'स्व' का अंग तथा उससे भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।......हमने कहा ही है कि कला हमेशा चेतन अथवा अवचेतन ढंग से प्रेषणीयता के उद्देश्य की पूर्ति करती है। अब हम दो अवस्थाओं का भेदीकरण करते हैं, पहली वह जिसमें कि कलाकार का इदम् अहं को पोषित करता है और दूसरी वह जिसमें कि वह दूसरों को पोषित करता है। यदि हम कलाकार से जनता की ओर उन्मुख हों तो हम देखते हैं कि कलाकार के साथ अवचेतनावस्था में 'समरूपण' या तादात्म्य-स्थापना द्वारा वही क्रिया दुहराई जाती है जो स्वयं कलाकार में सृजन-क्षणों में हुई थी।......अब इस क्रिया का क्रम उलट जाता है।.....जनता में यह चेतनावस्था से प्रारंभ होती है।"[1] अर्थात् सृजन-प्रक्रिया कृति में अवचेतन से चेतन माध्यम की ओर जाती है तो सुहृदयों में चेतन से अवचेतन की ओर प्रत्यावर्तन करती है। यह एक अति महत्वपूर्ण स्थापना है जिसके लिए हम अर्नेस्ट क्रोस के ऋणी हैं।

१. "अर्नेस्ट क्रीस: "साइको एनालिटिक एक्सप्लोरेशन्स इन आर्ट'

हिन्दी प्रेमियों के नाम चिट्ठी[1]

जनवरी, १९७२
हिन्दी विभाग
ओसाका गाईकोकुगो दाईगाकु
ओसाका, जापान

जापान में हिन्दी के अध्ययन तथा अध्यापन को आरम्भ हुए अधिक दिन नहीं हुए हैं। उसका इतिहास उर्दू का जितना पुराना नहीं है। इस बात का सम्बन्ध भारत (ब्रिटिश इण्डिया) में हिन्दी को जो महत्व दिया गया था उससे है। अतः जापान में हिन्दी भाषा का अध्ययन-अध्यापन पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से ही हो रहा है। हमारे विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर एइजो सावा ने अभी तक हिन्दी के दो व्याकरण-ग्रंथ प्रकाशित कराये हैं। साथ ही उन्होंने १९४७ में "जापानी हिन्दुस्तानी बोलचाल—पहला भाग—शब्द" नामक एक पुस्तिका भी प्रकाशित करायी थी जिस में लगभग २,६०० जापानी शब्दों के अर्थ विषयवार क्रम से हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में दिये गये हैं। इधर तोक्यो गाइकोकुगो दाईगाकु (विदेशी भाषाओं का विद्यालय) एवं ओसाका गाईकोकुगो दाईगाकु के हिन्दी विभागों से कई किस्म की पुस्तक-पुस्तिकाएँ हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों एवं व्याकरण ग्रंथों के रूप में प्रकाशित हुई हैं। मेरी "हिन्दी-जापानी शब्द-संग्रह" नामक पुस्तक भी इस प्रकार के प्रयास की एक कड़ी मात्र है।

हाल ही तक जापान में हिन्दी की प्रारम्भिक कक्षाओं के छात्र-छात्राओं के लिए हिन्दी के शब्द कोश के रूप में एक मात्र सहारा भार्गव वाली डिक्शनरी Bhargava's The standard dictionary of the Hindi language था। १९७० में प्रकाशित A Practical Hindi-English dictionary (National P. H.) ने भार्गव कोश की कमियों को काफी दूर कर दिया है।

---

१. लेखक-द्वारा सम्पादित "हिंदी जापानी शब्द-संग्रह" (जनवरी १९७१ के संदर्भ में लिखित)
—सम्पादक

हिन्दी प्रेमियों के नाम चिट्ठी[1]

जनवरी, १९७२
हिन्दी विभाग
ओसाका गाईकोकुगो दाईगाकू
ओसाका, जापान

जापान में हिन्दी के अध्ययन तथा अध्यापन को आरम्भ हुए अधिक दिन नही हुए हैं। उसका इतिहास उर्दू का जितना पुराना नही है। इस बात का सम्बन्ध भारत (ब्रिटिश इण्डिया) में हिन्दी को जो महत्त्व दिया गया था उससे है। अत जापान में हिन्दी भाषा का अध्ययन-अध्यापन पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से ही हो रहा है। हमारे विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर एइजो सावा ने अभी तक हिन्दी के दो व्याकरण-ग्रंथ प्रकाशित कराये हैं। साथ ही उन्होने १९४७ में "जापानी हिन्दुस्तानी बोलचाल—पहला भाग—शब्द" नामक एक पुस्तिका भी प्रकाशित करायी थी जिस में लगभग २,६०० जापानी शब्दो के अर्थ विषयवार क्रम से हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाओ में दिये गये हैं। इधर तोक्यो गाइकोकुगो दाईगाकू (विदेशी भाषाओं का विद्यालय) एव ओसाका गाईकोकुगो दाईगाकू के हिन्दी विभागो से कई किस्म की पुस्तक-पुस्तिकाएँ हिन्दी की पाठ्यपुस्तको एव व्याकरण ग्रंथो के रूप मे प्रकाशित हुई हैं। मेरी "हिन्दी-जापानी शब्द-सग्रह" नामक पुस्तक भी इस प्रकार के प्रयास की एक कड़ी मात्र है।

हाल ही तक जापान मे हिन्दी की प्रारम्भिक कक्षाओ के छात्र-छात्राओ के लिए हिन्दी के शब्द कोश के रूप मे एक मात्र सहारा भार्गव वाली डिक्शनरी Bhargava's The standard dictionary of the Hindi language था। १९७० मे प्रकाशित A Practical Hindi-English dictionary (National P. H.) ने भार्गव कोश की कमियो को काफी दूर कर दिया है।

---

१. लेखक-द्वारा सम्पादित "हिंदी जापानी शब्द-संग्रह" (जनवरी १९७१ के संदर्भ में लिखित)
—सम्पादक

वैसे बृहत् कोश के रूप में तो प्लाट्स का कोश (A Dictionary of Urdu, गंभारता Classical Hindi and English, Oxford U. P.) आज भी हमें प्राप्त है और हिन्दी के छात्रों को भी बड़े काम का है। पर उसके पढ़ने के लिए फारसी लिपियों का ज्ञान अनिवार्य है। फिर यह बात तो सर्वमान्य है कि जितना भी अच्छा कोश हो यदि दूसरी (मातृभाषा नहीं, विदेशी) भाषा के माध्यम से उसका इस्तेमाल करना पड़े तो उसकी उपयोगिता आधी से अधिक घट जाती है। यह बात प्लाट्स वाले कोश के साथ भी लागू होती है। इसी कारण मैंने हिन्दी और जापानी का सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहा और "शब्द-संग्रह" तैयार करने का दुस्साहस किया। पर दुस्साहस की भी सीमा होती है, होनी चाहिए भी। एक तो हिन्दी में अपनी पैठ अर्थात् योग्यता और दूसरी ओर प्रकाशन के लिए साधन एवं खर्च। इन बातों को ध्यान में रखकर मैंने काम किया। मेरे सामने नमूने के रूप में केंद्रीय हिंदी निदेशालय, दिल्ली से प्रकाशित "व्यावहारिक हिन्दी अंग्रेजी शब्द-कोष" (१९६६) था।

मैंने सबसे पहले हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों से शब्दों को संगृहीत करने का काम किया। संग्रह के काम के लिए जिन पुस्तकों का उपयोग किया गया उनका पूरा का पूरा विवरण तो इस जगह नहीं दिया जा सकता, पर उनमें से कुछ पुस्तकों के नाम निम्नलिखित हैं।

बेसिक हिन्दी रीडर भाग १—५, शिक्षा निदेश, मथुरा १९६२/ हमा... इतिहास तथा नागरिक शास्त्र भाग १—३, आगरा, १९६२/ नवीन प्रारम्भिक विज्ञा... भाग १—३, कानपुर, १९६२/ पृथ्वी परिक्रमा, आगरा, १९६२/ बेसिक अं... ...णित भाग ३—५, मथुरा, १९६२/ कृषि और सरल विज्ञान, शिक्षा निदेशक, ...त्तर प्रदेश, १९६२/ पद्य सरोज, के० एन० जोशी, मैकमिलन, बम्बई/ सरल भाषा ...ाग १—८, नई दिल्ली/ अभिनव सामाजिक अध्ययन भाग ६—८/ आदि।

इन पुस्तकों से शब्द संग्रह करने के पश्चात् समाचारपत्र (हिन्दुस्तान आदि) ... साप्ताहिक पत्रिका (दिनमान आदि) से भी शब्द संगृहीत किये। शब्द-संग्रह ...परान्त शब्द-चयन का काम आरम्भ हुआ। इस प्रकार कोई ९,००० शब्दों का ... किया गया। फिर पांडुलिपियों का टंकन, वह तो अपने हाथ से करना पड़ा।

अब अपने हाथ संपादित "संग्रह" के पढ़ने से मन में कुढ़न महसूस होने ... है। कारण स्पष्ट है, आप लोगों को विस्तार से बताने की आवश्यकता ...गी। सर्वप्रथम अपनी योग्यता इसके लिए उत्तरदायी है। दूसरे, समृद्ध हिन्दी ... शब्दभंडार में से केवल ९,००० शब्दों का चयन करना, वह भी, अधिकतर ...तकों के माध्यम से। इससे अनेक मौलिक एवं प्राथमिक शब्द (जो बोलचाल ... व्यवहृत होते हैं) या शब्दों की व्याख्याएँ छूट गई। परिणामस्वरूप इस ...ी उपयोगिता अत्यंत सीमित हो गई। शब्द-चयन में कैसी सतर्कता निभायी

शब्दो की व्याख्या करने मे कहाँ तक वैज्ञानिक पद्धति अपनायी गई, ऐसे
र भी कई प्रश्न उठाये जा सकते है। इन प्रश्नो के उत्तर देने के बजाय मैं इतना
कर चुप्पी साधना अपने लिए हितकर समझता हूँ कि मेरा मुख्य उद्देश्य
शिक्षियो की सहायता करने का था, पर अपनी इस कृति से बिल्कुल सतुष्ट नही
। साथ ही यह भी बताना उचित होगा कि यह "सग्रह" अपनी दरिद्रता को
या भर मे दरशा कर मुझे अधिक पक्के काम करने को प्रेरित कर रहा है।
है तोक्यो गाईकोकूगो दाईगाकू के प्रो० दोई और उनके सहयोगी 'बृहत् हिन्दी-
ानी कोश' के संपादन मे लगे हुए हैं और दो एक वर्ष मे वह पुस्तकाकार
ण करेगा। वह जापान मे हिन्दी-जापानी का पहला कोश होगा।

आखिर लिखने बैठा हूँ तो मन करता है कि इस सुयोग का सदुपयोग किया जाए
र उन बातो के बारे मे लिख देना चाहिए जो बहुत दिनो से श्रोता की प्रतीक्षा
थी।

इस समय जापान के हिन्दी के अध्येताओ को हिन्दी-हिन्दी और हिन्दी-अग्रेजी के
अच्छे शब्दकोश प्राप्य है और वे उनका खूब उपयोग कर रहे हैं। उनकी उपयोगिता
कुछ भी संदेह नही। पर हम विदेशी छात्रो को हिन्दी-हिन्दी कोशो से शिकायत भी
हिन्दी-अग्रेजी कोश मे इस किस्म की शिकायत कम है। हिन्दी-अग्रेजी कोश से
आशय उपर्युक्त प्लाट्स के कोश से है। इस के पीछे जो तथ्य है उसे स्पष्ट करना
। प्लाट्स वाले कोश मे मुख्यत शब्दो का अग्रेजी मे अनुवाद मिलता है, हालांकि
दी-हिन्दी के कोशो मे मुख्यत. शब्दो की व्याख्या दी जाती है अथवा पर्याय दिये जाते
इस सदर्भ मे दोनो के अपने अपने गुण दोष हैं। पर मेरी दृष्टि मे इस से अलग
ट्स की खूबी का कारण है। वह यह है कि हिन्दी-हिन्दी वाले कोशो मे व्याख्या
जो पद्धति अपनायी गयी है वह अधिक वैज्ञानिक नही लगती। कुछ उदाहरण
ए। "मानक कोश" मे मिलते है : "कौवा=कौवा—१. काले रग का एक
द्ध पक्षी, जो का-का शब्द करता है/गिद्ध —१ लम्बी गर्दन वाला एक प्रकार का
द मासाहारी बड़ा पक्षी जो शव आदि खाता है।/उरद —एक प्रसिद्ध पौधा जिसकी
यो के दानो की दाल बनती है। ... "मेरा आशय यह है कि इन पक्तियो मे
गिद्ध" शब्द की क्या तुक ? किसी भी शब्द कोश की व्याख्या तभी सार्थक होती है
शब्द विशेष का बड़ा या छोटा नही, सच्चा चित्र पढ़ने वाले के सामने आ जाए।
वे की बोली के साथ उसके आकार, स्वभाव आदि का वर्णन अपेक्षित है। लम्बी
न वाले मासाहारी पक्षी तो गिद्ध के अलावा भी होते है। ऐसे पौधे तो और भी
हैं जिनकी फलियो के दानो की दाल बनती है। "मानक कोश" की अपेक्षा
न्दी शब्द सागर" की व्याख्या अधिक स्पष्ट और अधिक उपयोगी है। फिर भी वह
र्णरूपेण हमे सन्तुष्ट करने वाली नही है। "शब्द सागर" मे फिर "कौवा" को देखें।
मे कौवे की शक्ल-सूरत, स्वभाव के वर्णन के साथ ऐसे वाक्य मिलते हैं ... "कहते
यह अपने जीवन मे केवल एक बार अडे देता है। ......लोग कहते है कि इसकी

केवल एक ही पुतली होती है जो आवश्यकतानुसार दोनो आँखों में घूमा करती है। ......" हमे इन वाक्यो से भारत के बीते दिनो के लोकविश्वास का पता चलता है। इस का अपना अलग से महत्त्व है। पर सोचने की बात यह है कि जन्तु विज्ञान की दृष्टि से इन बातो का जिक्र इस जगह पर परमावश्यक था या नही। इस संदर्भ में जितनी अधिक सावधानी बरती जाएगी उतना ही अच्छा फल मिलेगा। प्लाट्स के कोश मे तो लेटिन भाषा मे पेड़-पौधो तथा पशु-पक्षियों के पारिभाषिक नाम भी दिये जाते हैं, इससे पढने वाले को शब्द विशेष की विशिष्टता के ठीक से पकड़ने मे सहायता मिलती है। महत्त्व इसमे है। लेटिन भाषा मे होने से नही, विशिष्टता को प्रगट करने के ढग मे है। मेरा आशय यह नही है कि प्लाट्स का कोश सर्वश्रेष्ठ है। किसी भी (विदेशी) भाषा को सीखने के लिए तीसरी (विदेशी) भाषा का सहारा लेना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है और वह तीसरी भाषा मातृभाषा और विदेशी भाषा के बीच मे व्यवधान उपस्थित कर देती है। हिन्दी-हिन्दी के जितने अच्छे कोश बनेंगे उतने ही अच्छे हिन्दी-विदेशी कोशो के बनने की सभावना बढेगी।

अब मेरा दूसरा निवेदन भी सुनिएगा। आज हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत जो कृतियाँ गिनी जाती है उन के अध्ययन के लिए वर्तमान हिन्दी-हिन्दी कोश पर्याप्त नही हैं। हिन्दी साहित्य केवल खडी बोली हिन्दी का साहित्य नही है, बल्कि हिन्दी क्षेत्र की भाषाओं एव बोलियों का साहित्य माना जाता है और इसी बूते उसके इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य की रचनाओ मे इस हिन्दी क्षेत्र की बोलियों तथा उपभाषाओ के अनेक शब्द आये है। फिर यह बात एकदम नवीन प्रवृत्ति की उपज भी नही है, क्योंकि १९वीं शती के साहित्य मे भी खडी बोली इतर बोलियो के अनेक शब्द (शब्द ही नही, बोलियाँ) मिलते है जैसे "प्रेमघन" के नाटको आदि मे। वैसे इधर रामाज्ञा द्विवेदी जी का "अवधी कोश", डा० अम्बा प्रसाद 'सुमन' का "कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली" आदि महत्त्वपूर्ण कोश-ग्रन्थो का संपादन तथा प्रकाशन हो रहा है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। पर मेरी क्षुद्र मति के अनुसार ऐसा काम हिन्दी क्षेत्र की सब बोलियो पर अधिक बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए। इसकी आवश्यकता दूसरे दृष्टिकोण को अपनाने से भी सिद्ध की जा सकती है। महापडित राहुल सांकृत्यायन का कथन प्रस्तुत है। वे अपनी पुस्तक "आज की समस्या" (किताब महल, इलाहाबाद) में हिन्दी और हिन्दी क्षेत्र की जनबोलियों का सम्बन्ध समझाते हुए लिखते हैं ....हिन्दी को अपनी प्रभव भूमि के साथ सम्पर्क जोड़ना होगा। उसकी अपनी जन्मभूमि (कुरु-भूमि) ऊसर नहीं, महा उर्वर है। कौरवी के पास बिना गये न तो हिन्दी की कृत्रिमता हट सकती है और न संस्कृत या अर्बी-फारसी से ऋण लेने की प्रवृत्ति से छुटकारा पा सकती है। ......प्रखर हिन्दी वादियों को भी मानना पड़ेगा कि आज हिन्दी उस जगह पहुँच गई है जहाँ अपने मूल-स्रोत से सम्पर्क बनाये बिना उसकी अधूरी शक्ति, अधूरे भाव-प्रकाशन को दूर नहीं किया जा सकता। आज सुनार, माली, लोहार, कुम्हार के सैकड़ों औजारों और

क्रियाओं का वर्णन क्यों हमारे उपन्यास-कहानी लेखक नहीं करते ? इसीलिए कि हिन्दी का सम्बन्ध अपने मूल स्रोत से नहीं है ......" (मातृभाषाओं की समस्या, पृ० ३९-४०)।

राहुल जी का लेख आज से लगभग तीस वर्ष पहले का है। तब से आज तक हिन्दी के लिए उन्नति का युग रहा है और हिन्दी का खजाना भरता आ रहा है। इस बीच विद्वानों ने विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में पारिभाषिक शब्द तैयार किये। अनेक कोशकारों ने वृहत्तर कोश प्रस्तुत किये। फिर भी मुझे राहुल जी की इस बात में सचाई दिखाई देती है। और मेरे विचार में यह बात केवल कौरवी के लिए नहीं, बल्कि अन्य बोलियों तथा उपभाषाओं के लिए भी है। ऐसे काम के हो जाने से हिन्दी और भी समृद्ध भाषा बन सकती है। एक शब्द है, उस पर विचार किया जाए। जो वस्तु स्थिति है सो आप के सामने है। "धर्मयुग" के ३० अगस्त '७० के अंक में 'ओठकटुआ' पर एक लेख था। उस लेख में फोटो भी था तो ओठकटुवा का मतलब समझने में मुझे देर नहीं लगी। पर मैंने अपने सतोष के लिए हिन्दी–हिन्दी कोशों (हिन्दी शब्द सागर, मानक हिन्दी कोश, वृहत् हिन्दी कोश) में उस शब्द को ढूढा, लेकिन वह किसी में नहीं मिला। जब मैंने अग्रेजी-हिन्दी कोश में देखा तो कामिल बुल्के जी के कोश में ओठकटा शब्द मिला, पर वृहत् अग्रेजी-हिन्दी कोश में खण्डोष्ठ शब्द मिला। फिर मैंने ओठकटा और खण्डोष्ठ शब्दों को हिन्दी-हिन्दी कोशों में ढूढा, पर दोनों नहीं मिले। मैं इतना और कहना चाहता हू कि यदि ओठकटा, ओठकटवा, खण्डोष्ठ शब्द हैं तो उन्हें हिन्दी-हिन्दी कोशों में क्यों नहीं जगह देते हैं ? जापानी भाषा में इस शब्द के लिए जन भाषा का और डाक्टरी का पारिभाषिक शब्द भिन्न-भिन्न हैं, पर दोनों शब्द किसी भी जापानी-जापानी शब्दकोश में मिल जाएगे। मैं समझता हू आप लोग मेरा आशय अन्यथा नहीं लेंगे और ऐसा तो नहीं सोचेंगे कि मैं हिन्दी के कोशों की नुक्ताचीनी कर रहा हू।

जनता की भाषा की उपेक्षा उचित नहीं है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से वह 'अपभ्रंश' नहीं, अधिक विकसित भाषा है। यदि हिन्दी भाषियों में सस्कृत-परस्त होकर शब्द गढ़ने और गढ़कर उपयोग में नहीं लाने की प्रवृत्ति बनी रहेगी तो अग्रेजी का राज हिन्दी क्षेत्र में निष्कटक रहेगा। जापानी भाषा भी ऐसे काल से गुजर चुकी है जैसे कि एक चीज के लिए अनेक (अधिकाशत पारिभाषिक) शब्द अनेक विद्वानों द्वारा गढ़े गये थे। परन्तु आवश्यकतानुसार उनके नित्य के प्रयोग से उनमें से एक या दो ही शब्द 'जिन्दा' रहे और बाकी तो 'गुजर गये'। आज अग्रेजी-हिन्दी कोशों को देखने से ऐसा लगता है कि अब हिन्दी में आवश्यकता से अधिक शब्द तैयार हैं, पर उनका प्रयोग करने वाले बहुत कम हैं। शब्द-निर्माण के लिए हर जगह सस्कृत का मुह देखने की जरूरत नहीं होगी। बोलियों का सहारा लेने से अथवा दैनिक जीवन में अपनाये गये अंग्रेजी शब्दों को उचित जगह देने से भी काम चल जाता है। ऐसे काम में रूढ़िवादिता अथवा देशभक्ति की आवश्यकता नहीं है। नहीं तो हिन्दी के लिए हानि ही हानि होगी।

अब मेरा अन्तिम निवेदन है। आशा है आप लोग धैर्य से सुनेंगे ही। हिन्दी साहित्य के शोध में आज अनेक विद्वान् लगे हुए हैं। दूसरी ओर नये पुराने लेखकों की रचनाएं धूम-धाम से प्रकाशित हो रही है। यह बड़े हर्ष की बात है। इस गति से हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्य की उन्नति होती रहेगी तो वह दिन अधिक दूर नहीं होगा जब हिन्दी भाषा संसार की सबसे उन्नत और समृद्ध भाषाओं में गिनी जाएगी और सारे संसार में हिन्दी साहित्य का प्रचार हो जाएगा। इस समय मेरा निवेदन यह है कि १९वीं शती उत्तरार्द्ध तथा २०वीं शती के आरम्भ में हिन्दी का जो साहित्य रचा गया उसका समग्र रूप हिन्दी साहित्य के प्रेमियों के सामने आ जाना चाहिए। वैसे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाएँ तो हमें आसानी से मिल जाती हैं, परन्तु प० बालमुकुन्द गुप्त, प० बालकृष्ण भट्ट, प० प्रतापनारायण मिश्र आदि साहित्यकारों की कृतियां तो अधूरी ही, वह भी मुश्किल से मिल सकती हैं। उस युग की तो और भी प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाएँ है। यह भी बड़ी बात है कि उस युग के साहित्य का महत्त्व केवल साहित्यिक क्षेत्र ही में सीमित नहीं है, बल्कि आधुनिक भारत के इतिहास के सम्यक् दर्शन पाने के लिए भी है। "हिन्दी प्रदीप" आदि पत्र-पत्रिकाओं के आज हिन्दी प्रेमियों को न मिलने के कारण मुझे बड़ा खेद होता है। यदि उन रचनाओं को क्लासिक नहीं मानेंगे तो हिन्दी की कौन कौन सी रचनाएँ क्लासिक मानी जाएगी। "क्लासिक" का मतलब पुस्तकों को पुस्तकालयों में धूलि-धूसरित" होने देने अथवा चूहों या दीमकों की दया पर छोड़ देने से नहीं है। यदि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन से प्राइवेट प्रकाशक हिचकते हो तो यह काम सरकारी अथवा अर्ध सरकारी संस्थानों को सौंप देना होगा।

लगता है कि मैं लिखते लिखते बहक गया हूं। सम्भव है मेरा लेख आप लोगों को असंगत प्रलाप सा लगे। यह भी सम्भव है कि मेरा दुस्साहस धृष्टता की सीमा तक पहुंच गया हो। पर मुझे पक्का विश्वास है कि आप लोग अवश्य मुझे क्षमा कर देंगे यह समझकर कि एक जापानी हिन्दी-भक्त हिन्दी के प्रेम में पगला गया है।

इति

आपका
कात्सूरो कोगा

क्त कबीर और कविता

डॉ० नागेन्द्र नाथ उपाध्याय

सत कबीर को लोग शास्त्रीय दृष्टि से श्रेष्ठ कवि नही मानते, यह सर्वथा उचित
करते है, किन्तु इसके होते हुए भी उनकी रचनाओ मे कुछ लोगो ने उनके कवित्वजनो-
गुणो का दर्शन अवश्य किया है। बहुत पहले जब लोगो ने बौद्ध सिद्धो की ही
परा मे सतो को भी स्वीकार कर लिया था तो उनके सामने यह समस्या आई थी
इन दोनो को जोडने वाली कडी कौन-सी है। तभी डॉ० बडथ्वाल ने नाथयोगियो
रचनाओ का उद्घाटन और विवेचन किया। फिर तो प्राय सभी लोगो ने यह
ार कर लिया कि नाथ सिद्धो की परम्परा का विकास बौद्ध सिद्धो से हुआ है
बौद्ध सिद्धो की परम्परा नाथो से होती हुई सतो तक विकसित हुई है। पर यहाँ
ार का अवसर नहीं है कि इन दोनो प्रकार के सिद्धो का इस प्रकार का सम्बन्ध-
पण कहाँ तक उचित और प्रमाणपुष्ट है। इनकी रचनाओ को काव्य के क्षेत्र से
र कर उन्हे केवल सतो की रचनाओ की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए विशेष
ा गया। कोरा उपदेश देने वाली इनकी रचनाओ को भाषा और शैली दोनो ही
यो से अव्यवस्थित समझा गया। इनकी, विशेषकर नाथो की रचनाओ की भाषा
सधुक्कडी भाषा कहा गया और इन्ही आधारो पर इन्हे साहित्येतिहास मे उपेक्षापूर्ण
न प्राप्त हुआ। इस परम्परा मे विकसित होने के कारण सतो की रचनाओ को भी
हेलना की गई, केवल कुछ को छोडकर। कबीर आदि की रचना को सतोष काव्य
प मे स्वीकार किया गया।

इतिहास लिखते समय प्राय लोग कबीर की रचनाओ का मूल्यांकन [illegible]
की दृष्टि से करते है। इसकी अपेक्षा इसका मूल्यांकन [illegible] काव्य,
काव्य और काव्य के मूल आन्तरिक तत्वो की दृष्टि से किया जाना चाहिए।
ान्यतया सभी लोग सिद्धान्त रूप मे तो यह स्वीकार कर लेते है कि सत्य के आधार
लक्षणो का निर्णय किया जाना चाहिए, किन्तु व्यवहार मे लोग इसका अनुसरण
करते और किसी न किसी दुराग्रहवश किसी रचना को महत्वहीन अथवा [illegible]
कर देते है। इस प्रकार की प्रवृत्ति आलोचकवर्ग के लिए हानिकारक है।

इस प्रसंग में स्वयं रचनाकार की घोषणा और व्यक्तित्व का विचार भा
है। यदि कोई रचनाकार स्वयं अपने को कवि घोषित नहीं करता और न वह
रचना की प्रतिज्ञा ही करता है तो ऐसी स्थिति में किसी आलोचक को यह भी
करने का अधिकार नहीं है कि अमुक कवि उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट कोटि का है।
प्रकार तत्कालीन काव्य में किसी काव्योचित अथवा काव्येतर तत्त्व के प्रामुख्य
विचार किया जाना चाहिए। तीसरी बात यह विचारणीय है कि कवि का व्य
किस प्रकार का है और उसके जीवन का लक्ष्य क्या है; क्योंकि हम कवि की
को उसके व्यक्तित्व से अलग नहीं कर सकते। तत्कालीन काव्य की प्रमुख प्रवृ
विशेषता को भी इस विचार में स्थान दिया ही जाना चाहिए।

कबीरदास प्रथमतः भक्त थे। यदि शुक्ल जी की मान्यताओं को स्वीकार
तो उन्हें जिज्ञासु भक्त की कोटि में रखा जा सकता है। कबीर दास ने कवि
कविता, दोनों, को बहुत ही हीन आसन दिया है। उन्होंने उन्हें अहंवादियों की
में रखा है। उनकी दृष्टि में पंडित, गुनी, सूर, कवि और दाता—ये सभी म
ही बड़ा कहते हैं[1]। कबीर दास ने अनेक स्थानों पर अपनी भक्ति पद्धति की
की ओर संकेत करते हुए यह स्पष्ट किया है कि वे नारदीया भक्ति को मानते
इसी का आश्रयण करने के लिए वे दूसरों को उपदेश भी देते हैं। जहाँ तक कबी
सवाल है, वे बिना अनुभव में उतारे किसी बात का उपदेश नहीं करते।
साक्षीकृत अनुभवों को ही अपने पदों में उतारा। इससे यह स्पष्ट है कि उन्हों
नारदीया भक्ति का आश्रयण किया था[2]। नारद ने अपने भक्तिसूत्र में यह
सम्बन्ध में स्पष्टतया कहा था—अभिमान-दम्भादिकं त्याज्यम्[3]। इसमें अन्तिम
का वर्णन ध्यानाकर्षक है। काम और क्रोध के साथ ही अभिमान को भी भग
त्यागने के लिए उनका स्पष्ट निर्देश है[4]। जबकि कविता भी अहंकार को उत्प
वर्द्धित करने वाली एक मानसिक वस्तु है, तो ऐसी स्थिति में अहंकार के घोर
और उसे भक्ति में सब से बड़ा बाधक मानने वाले कबीर उसे किस प्रकार स्वीक
सकते थे। भक्त का लक्ष्य भक्ति ही है। नारद का अनुसरण करने वाले भक्त
तो प्रेम ही एक मात्र काम्य है[5]। इस प्रेम में बाधा और अहंकार उत्पन्न
वाली कविता भला उसी भक्त को क्यों स्वीकार्य हो सकती थी। विभिन्न
[illegible] और इच्छा का त्याग कर सारा संसार भ्रम में भ्रान्त हो रहा है और इस
को [illegible] नहीं करता। नारद ने स्पष्ट घोषणा की थी कि भक्ति तो अनुभव
[illegible] पूर्ण सिद्ध, अमृत और तृप्त हो जाता है[6]। इस अनुभ
[illegible] कविता से सम्भव नहीं। यदि कविता करते भी मृत्यु की प्राप्ति
[illegible] से कबीर नारद के कथन की पुष्टि करते हैं और मृत्यु की उत्पत्ति
[illegible]
[illegible]
[illegible]

करना निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार की घोषणाओं के प्रति वे लापरवाह हैं और उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं।

स्वयं कबीर दास ने अपने मसिकागद न छूने की बात को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने शिक्षा नहीं पाई थी, यह प्रायः सर्वविदित है। साथ ही बड़े-बड़े साधु-संतों और महापुरुषों का सत्संग-लाभ भी किया था, यह प्रमाणित है। इसके पिष्ट-पेषण की आवश्यकता नहीं है। वे भक्त थे, संत थे और यही रहना भी चाहते थे। उनका अनुसरण करने वालों की भी कमी नहीं थी, किन्तु वे चेलों की जमात लेकर चलने वाले नहीं थे। अब तो यह भी प्रमाणित हो चला है कि उन्होंने किसी मत, सम्प्रदाय, पंथ आदि का प्रवर्त्तन भी नहीं किया था। फक्कड़, बेपरवाह, मस्त, सन्तुष्ट और निरीह संत अपने प्रिय को छोड़कर और किसी की परवाह क्यों करेगा? उसे केवल अपने प्रियतम के दीदार की बेताबी रहती है। सत्संग की महिमा का बखान उन्होंने प्राचीन भक्तिशास्त्रों के अनुसार ही किया है। वे अपनी अनुभूतियों और उपलब्धियों के रत्न का सबको प्रदर्शन भी नहीं करना चाहते थे—

हीरा पायो गाठ गठियायो बार बार वाको क्यों खोले।[8]

अपनी मस्ती में, प्रेमानंद में ही सदैव लीन रहने वाले संत को बाहरी अभिव्यक्ति की फुर्सत ही नहीं रहती। भक्ति को जानकर ही वह मत्त, स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है[9]। क्योंकि स्वयं नारद ही प्रेम के स्वरूप को अनिर्वचनीय मानते हैं। उसका आस्वादन भी मूकास्वादन है[10]। ऐसी स्थिति में लौकिक अभिव्यक्ति कर दूसरे को समझाने की आवश्यकता भी नहीं है। दूसरे, कबीर की पीड़ा और उपलब्धि पर वे लोग विश्वास ही नहीं कर सकते जो उस पीड़ा का अनुभव न कर चुके हों। यदि दूसरे लोग विश्वास भी कर लेते हैं तो उसका मर्म उनकी समझ में ही नहीं आता क्योंकि वह विलक्षण है। लौकिक बुद्धि और हृदय से वहाँ तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। इस दृष्टि से भी कबीर की रचनाएं लौकिक कविता से भिन्न हैं। लोकसामान्य भावभूमि पर उन्होंने उनकी अभिव्यक्ति नहीं की है। तब प्रश्न यह उठता है कि उन्होंने ऐसा शब्दातीत, अनिर्वचनीय और अवर्णनीय परमानुभूति की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में कैसे की? वस्तुतः उनकी अभिव्यक्त परमानुभूति की स्मृतिमात्र है, छाया है। वह आलोड़न के उपरान्त सम्पन्न होने वाले अवतरण की अभिव्यक्ति है। उस अनुभूति का वेग और तेज इतना अधिक है कि लौकिक अथवा सामान्य भाषा उसके भार को वहन नहीं कर पाती और टूट-फूट जाती है। परिणामतः काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में कबीर की भाषा और उद्दामता दुष्ट हो जाती है। दूसरे लोग यह कहेंगे कि कबीर की भाषा असमर्थ है और यह असमर्थता अपढ़ में ही आ सकती है, किन्तु कबीर गंवार नहीं थे और न अपनी भावनाओं और विचारों के प्रति बेईमान ही थे। इसीलिए वे कहते हैं—

साई सेती साच चलि औरा सू सुधभाइ[11]।

उनकी इस प्रकार की सचाई तो अपने प्रियतम के प्रति है और शुद्ध भावना शेष संसार के प्रति। ऐसी स्थिति में यदि उनकी अभिव्यक्ति में भी सचाई है तो यह अस्वाभाविक नहीं है। भीतर की सचाई और शुद्धता होनी चाहिए, बाहर यदि कुरूप भी रहे तो कोई हानि नहीं, लेकिन सारी दुनिया तो बाहरी सुंदरता के पीछे ही मरी जा रही है, भीतर क्या है, कभी नहीं देखती और कबीर के साथ भी लोगों ने ऐसा ही किया। भक्त के लिए भगवान् और गुरु अनुकूल और सीधे रहे तो सब कुछ ठीक है। इस प्रकार कबीर की यह बात बिलकुल ठीक है कि उन्होंने प्रिय का केवल एक ही अक्षर पढ़ा था और कथनी तथा करनी के सत्य का साक्षात्कार कर लिया था[12]। यह अवश्य है कि उन्होंने निगम, आगम, स्मृति, पुराण आदि से साखी नहीं भराई। इस पर कुछ लोग नाराज हो गए। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि कबीरदास भक्त थे, संत थे, जिसके लिए काव्यत्व आवश्यक नहीं। वैसे लोग कबीर को ज्ञानी कह कर उन्हें भक्त भी नहीं रहने देना चाहते, जिससे उन्हें भावक्षेत्र में प्रवेश करने का भी अधिकार न रहे। यह एक पृथक् विषय है, जिसके लिए यहाँ अवकाश नहीं। यह भक्ति काव्येतर है। भावना की महिमा तो लोग जरूर स्वीकार करते हैं, किंतु कबीर की अधिकांश रचनाओं में उसे भी मानने में लोगों को कठिनाई का अनुभव हो रहा है। इसके अतिरिक्त जो अन्य काव्य संबंधी तत्त्व आ गए है, वे लाए नहीं गए हैं, अयत्नसिद्ध है और स्वतः आ गए है। वे निश्चय ही घलुए के लाभ है। इस अनुचित और अनावश्यक लाभ की कबीर ने कभी चिंता नहीं की, लेकिन साहित्य के आलोचक उसी को सब कुछ मानते है।

उपर्युक्त विचारणा के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर दास का व्यक्तित्व भक्त का व्यक्तित्व है और उनकी रचनाएँ भक्ति की रचनाएँ हैं। भक्त का कवि होना आवश्यक नहीं और उसकी रचना का कविता होना भी आवश्यक नहीं। यदि उनका मूल्यांकन भी करना हो तो प्रथमतः यह देखना आवश्यक है कि भक्त की भावना और अनुभूति की सचाई उसमें है अथवा नहीं। उसने अपनी अनुभूतियों को अपनी रचनाओं में उतारने में ईमानदारी बरती है अथवा नहीं। उसके जीवन और रचना में सामरस्य और सामञ्जस्य है अथवा नहीं। कबीरदास करनी में विश्वास करते थे, केवल कथनी में नहीं[13]। नारद ने भी अपने भक्तिसूत्र में वाद के परित्याग का निर्देश दिया था[14]। भक्त अपने और भगवान् के लिए ही कुछ कहता है। वह स्वान्तःसुखाय कहता है किंतु उसका स्वान्तःसुखाय इतना व्यापक और विस्तृत है कि सारा [illegible] उसी में लीन हो जाता है। यही पिंड-ब्रह्मांड-लीला का रहस्य है। इस क्रम को भी यह कहते है कि कबीरदास [illegible] की उस स्थिति में [illegible] रहते है जिसमें ज्ञान और अज्ञान का भान नहीं रहता। इसलिए उनकी सच्ची अभिव्यक्ति, चाहे वह कैसी भी टेढ़ी-सीधी हो, सच्ची अभिव्यक्ति हो जाती है। और यह कबीर की खूबी है। इसी से उनकी अभिव्यक्ति की शक्ति को समझा [illegible] है।

थोड़ा शास्त्रीय ढंग से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि कवि तो पहले केवल वर्णनकर्त्ता ही था। बाद में उसे रस और भाव का विमर्शक कहा जाने लगा। उसके वर्णन में लोकोत्तरता और अतिशय का पुट आवश्यक माना गया। उसकी रचना रसनिष्पत्ति से मंडित और निरतिशय सरस और आह्लादक होती है। उसके लिए तर्क, व्याकरण, धनुर्वेद, आत्मज्ञान, द्यूत, वैद्यक, गजलक्षण, तुरगलक्षण, श्रुति, स्मृति, इतिहास, तंत्र, आदि का भी ज्ञाता होना आवश्यक माना गया। व्याकरण, कोश, छंदशास्त्र, कला, काम-शास्त्र आदि का भी ज्ञान बहुत आवश्यक समझा गया। इस प्रकार जैसे जैसे साहित्य की अभिवृद्धि होती गई, कवि के पांडित्य का विस्तार भी होता गया। फिर भी उसके दो प्रधान कर्म-दर्शन और वर्णन—यथावत् स्थिर रहे। बिना दर्शन के कवि का वर्णननिपुण होना असंभव है। वर्णन भी ऐसा हो जो पाठक तक पहुंच सके। दूसरे शब्दों में, उसमें प्रेषणीयता का होना परमावश्यक है। वर्णन की सफलता इसी में निहित है। भक्त की गति भक्ति और भगवान् है। उन्ही का वह दर्शन और अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में उसकी वर्णन-निपुणता भी उसमें होनी चाहिए। वह किसी काव्यशास्त्रज्ञ एवं मर्मज्ञ से शिक्षा-दीक्षा नहीं लेता। किसी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ का अध्ययन-मनन नहीं करता। रहस्यसाधना का क्षेत्र भी दार्शनिक चिंतन और तार्किक विचारणा से सर्वथा मुक्त है। कबीरदास तो शास्त्र से बहुत दूर हैं, यद्यपि नारद ने भक्तिशास्त्र के स्वाध्याय का विधान किया है—

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माणि करणीयानि[१]।

कविता कबीर को भक्ति के उद्बोधन में सहायक नहीं मालूम पड़ी और न काव्यशास्त्र ही। फिर भी भावावेग में यदि कुछ अभिव्यक्ति हो गई, अनायास अविच्छिन्न रूप में यदि कहीं कुछ कविकर्म साधित हो गया तो यह समझना चाहिए कि वह भक्ति-रचना है, काव्य-रचना नहीं। प्रत्येक भक्ति-रचना काव्य हो यह आवश्यक नहीं और प्रत्येक भक्ति-कालीन काव्य भक्ति-रचना हो, यह भी आवश्यक नहीं। वर्णन करने की सफलता तो प्रेषणीयता तक ही सीमित है और ऐसा भी नहीं है कि कबीर अपने अभिप्रेत को अभीप्सित रूप और मात्रा में सहृदय भक्त तक न पहुंचा सके हों। कहा तो यों जा सकता है कि कबीर अपनी भाषा की शक्ति और सहृदय भक्त श्रोता की ग्रहण-शीलता से भली भांति परिचित हैं, इसीलिए उन्होंने जरूरत पड़ने पर भावों अथवा विचारों को प्रेषणीय बनाने के लिए शब्दों और वाक्यों को दरेरा देकर, रगड़कर अपने मन के अनुकूल बना लिया है। उससे भाषा, छंद आदि का रूप शास्त्रीय दृष्टि से विकृत हो गया है, जिसकी कबीर को कभी चिन्ता नहीं रही। उन्होंने अपने प्रेषणीयता के उत्तरदायित्व को पूरा कर दिया, इतना भक्त के लिए पर्याप्त है।

अतः प्रथमतः तो कबीर के कविकर्म पर विचार ही नहीं करना चाहिए और यदि विचार करना ही हो और उसके बिना कोई बहुत बड़ी हानि की संभावना हो तो केवल दो बातों को ध्यान में रखना चाहिए। प्रथम तो यह कि कबीर भक्त थे और

दूसरे यह कि उनके काव्यत्व के विचार को केवल प्रेषणीयता की सफलता तक ही सीमित रखना चाहिए। इन बातों को पुष्ट रूप में सामने रखने के लिए उदाहरणों की एक बहुत बड़ी संख्या प्रस्तुत की जा सकती है और उनके व्याख्यान और पोषण में पर्याप्त तर्क दिए जा सकते हैं, जिनसे हम यहाँ बचना चाहते हैं। रहस्यवादी शैली की वर्णन-पद्धति में प्रतीक योजना के साथ पौराणिक-आध्यात्मिक कथा-शिल्प का प्रयोग प्रायः मिलता है। कबीर प्रतीक-सम्पत्ति की दृष्टि से दरिद्र नहीं हैं। इसके लिए विविध भारतीय स्रोतों की परीक्षा लाभकारी होगी। मेरा अपना विचार है कि कबीर के प्रतीकों की परम्परा का मूल अभारतीय स्रोतों में ढूंढने में असफलता ही हाथ लगेगी। इस दृष्टि से भी लोग कबीर की कविता का विचार करते हैं, किन्तु कबीर को इन सबकी अपेक्षा ही नहीं है लेकिन कोई इसे मानने के लिए तैयार नहीं है। काव्य के लिए प्रयोजनों (यश, अर्थ, व्यवहार, कल्याण, अनिष्टनाश, आनन्द आदि) की घोषणा मम्मट ने की थी [16] उनमें से कुछ (कल्याण, अनिष्टनाश, आनंद) को भिन्न अर्थच्छाया के साथ कबीर की रचनाओं के लिए अवश्य ही स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु यश, अर्थ और व्यवहार को कदापि नहीं। अतः लौकिक काव्य के मूल्यांकन के लिए जिन प्रयोजनों, मूल्यों और सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाता है, उनका विनियोग और आरोप कबीर की रचनाओं के लिए नहीं किया जाना चाहिए। उनका जीवन, उनका व्यक्तित्व, उनकी करनी, उनकी कथनी, सब कुछ भक्ति और भगवान् के लिए समर्पित थे। नारद ने भी यही माना था—नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति[17]। इसके अतिरिक्त नारद भक्ति को फलरूपा भी मानते हैं अर्थात् कबीर के लिए भक्ति साधन और साध्य दोनों है।

इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भक्त कबीर को कवि की दृष्टि से आँकना उनकी अवमानना है, जैसा हिन्दी के अनेक आचार्यों ने किया है। उनको भक्त की ही दृष्टि से देखना, समझना और आँकना चाहिए। भक्ति और प्रेषणीयता ही भावपक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष की कसौटियाँ है। दोनों ही दृष्टियों से कबीर की श्रेष्ठता असंदिग्ध है।

सदर्भ—

१ कबीर ग्रन्थावली—डा० श्याम सुन्दर दास, संवत् २००८, पृ० १३०-१३१, पद स० १२३।

२. वही, पृ० १८२-१८३, पद स० २७८। भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा॥

३. नारद भक्ति सूत्र,—सूत्र स० ६४।

४. वही, सूत्र सं० ६५। तदर्पिताखिलाचार कामक्रोधाभिमानादिक तस्मिन्नेव करणीयम्।

५. वही, सूत्र सं० ६६। त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदास्यनित्यकान्ता भजनात्मक प्रेमकार्यं प्रेमैव कार्यम्।

६. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६, पद स० ३८। नारद भिन्नि भिन्नि जगत भुलाना, मनहीं मन न समाना। नारद भक्ति सूत्र, सूत्र स० ३-४। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति

. . . ।

७. कबीर ग्रन्थावली, पृ० १९५, पद सं० ३१७। कबि कबीनै मूये, कापड़ी केदारौ जाई।

८. कबीर, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २५७, पद सं० ३३। मन मस्त हुआ तब क्यों बोले। हीरा पायो गांठि गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले।

९. नारद भक्ति सूत्र, सूत्र सं० ६। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति।

१०. वही, सूत्र सं ५१, ५२। अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

११. कबीर ग्रन्थावली पृ० ४६, साखी ११।

१२. वही, पृ० ३९, साखी ४। ३७७। पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ। ऐकै आषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होइ॥

१३. वही, पृ० ३८, साखी १, अंक १८। कथणी कथी तो क्या भया, जे करणी ना ठहराइ। कालबूत के कोट ज्यूं, देषत ही ढहि जाइ॥

१४. नारद भक्ति सूत्र, सूत्र सं० ७४। वादो नावलम्ब्यः।

१५ वही, सूत्र सं० ७६। भक्ति शास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक कर्माणि करणीयानि॥

१६. काव्य प्रकाश —मम्मटाचार्य, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, उल्लास १, कारिका २। काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

१७. नारद भक्ति सूत्र, सूत्र सं० १९। नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

१८. वही, सूत्र सं० २६। फलरूपत्वात्। सूत्र सं० ३०। स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमार।

दूसरे यह कि उनके काव्यत्व के विचार को केवल प्रेषणीयता की सफलता तक ह सीमित रखना चाहिए। इन बातों को पुष्ट रूप से सामने रखने के लिए उदाहरणों क एक बहुत बड़ी संख्या प्रस्तुत की जा सकती है और उनके व्याख्यान और पोषण पर्याप्त तर्क दिए जा सकते हैं, जिससे हम यहाँ बचना चाहते हैं। रहस्यवादी शैली क वर्णन-पद्धति में प्रतीक योजना के साथ पौराणिक-आध्यात्मिक कथा-शिल्प का प्रयो प्रायः मिलता है। कबीर प्रतीक-सम्पत्ति की दृष्टि से दरिद्र नहीं हैं। इसके लि विविध भारतीय स्रोतों की परीक्षा लाभकारी होगी। मेरा अपना विचार है कि कबी के प्रतीकों की परम्परा का मूल अभारतीय स्रोतों में ढूंढने से असफलता ही हा लगेगी। इस दृष्टि से भी लोग कबीर की कविता का विचार करते हैं, किन्तु कबी को इन सबकी अपेक्षा ही नहीं है लेकिन कोई इसे मानने के लिए तैयार नहीं है काव्य के लिए प्रयोजनों (यश, अर्थ, व्यवहार, कल्याण, अनिष्टनाश, आनन्द आदि की घोषणा मम्मट ने की थी [16] उनमें से कुछ (कल्याण, अनिष्टनाश, आनंद) को भिन अर्थच्छाया के साथ कबीर की रचनाओं के लिए अवश्य ही स्वीकार किया जा सकत है, किन्तु यश, अर्थ और व्यवहार को कदापि नहीं। अतः लौकिक काव्य के मूल्यांक के लिए जिन प्रयोजनों, मूल्यों और सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाता है, उनक विनियोग और आरोप कबीर की रचनाओं के लिए नहीं किया जाना चाहिए। उनक जीवन, उनका व्यक्तित्व, उनकी करनी, उनकी कथनी, सब कुछ भक्ति और भगवा के लिए समर्पित थे। नारद ने भी यही माना था—नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारत तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति[17]। इसके अतिरिक्त नारद भक्ति को फलरूपा भी मान है अर्थात् कबीर के लिए भक्ति साधन और साध्य दोनों है।

इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भक्त कबीर को कवि की दृष्टि से आँकन उनकी अवमानना है, जैसा हिन्दी के अनेक आचार्यों ने किया है। उनको भक्त की ह दृष्टि से देखना, समझना और आँकना चाहिए। भक्ति और प्रेषणीयता ही भावप और अभिव्यक्ति पक्ष की कसौटियाँ है। दोनों ही दृष्टियों से कबीर की श्रेष्ठ असंदिग्ध है।

सन्दर्भ—

१. कबीर ग्रन्थावली—डा० श्याम सुन्दर दास, संवत् २००८, पृ० १३०-१३१, पद सं० १२३।

२. वही, पृ० १८२-१८३, पद सं० २७८। मगनि नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कबीरा॥

३. नारद भक्ति सूत्र,—सूत्र सं० ६४।

४. वही, सूत्र सं० ६५। तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्।

५. वही, सूत्र सं० ६६। त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेमकार्यं प्रेमैव कार्यम्।

६. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६, पद सं० ३४। नारद भक्ति सूत्र, सूत्र सं० ३-४। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति।

दों का खण्डन नहीं करती, अतः किसी भी शोध-मनीषी ने किसी कल्पना-प्राप्त
न की प्रतिष्ठा नहीं की। अब भी ऐसी मौलिकता विशिष्ट विचारकों के विचारों
दन के सतत क्रम हैं। तत्त्वार्थ-तत्त्वों की तर्क-परम्परा का विविध रूप प्राप्त
और ग्रन्थों में क्रमशः उपलब्ध होता है, जहाँ तक उपलब्ध ज्ञान का परीक्षण
निष्कर्ष निकाले जाते हैं, जैसे तथ्यों की उपलब्धि प्रदर्शित की जाती है या ज्ञान
के नूतन प्रमाणन द्वारा उसे निकाला जाता है। अब 'वादे वादे' के स्थान पर
होते जायते तत्त्वबोध' की प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है। वाद-प्रक्रिया में तत्त्व,
प्रक्रिया के लिए भी उतने ही उपयोगी हैं, क्योंकि दोनों का उद्देश्य समान रूप से
शोध ही है।

न्याय-शास्त्र के दो युग हैं। प्राचीन न्याय शास्त्र अथवा अध्यात्म-प्रधान था
उसे 'आन्वीक्षिकी' कहा जाता था। प्रत्यक्ष और आगम द्वारा परिज्ञात अर्थ का
न प्राप्त करने का नाम 'अन्वीक्षा' है तथा अन्वीक्षण के आधार पर प्रवृत्त हुई
का नाम 'आन्वीक्षिकी' है[२]। नव्य-न्याय, तर्क प्रधान युग की देन है। न्याय
कार वात्स्यायन ने प्रमाणों द्वारा अर्थ परीक्षण को ही न्याय माना है[३] और इस
परीक्षण की विधि निश्चित करने वाला शास्त्र ही न्याय-शास्त्र है। इस नये अर्थ
में इसे वाद-विद्या, तर्क-विद्या आदि नाम दिया गया है। प्रमाणों द्वारा अर्थ-परीक्षण
का कार्य भी है और शोध का भी। यही कारण है कि आधुनिक शोध में न्याय-
अपनी प्रमुख भूमिका सम्पादन करता है।

र्यों और अनुबन्ध—

अनुबन्ध[४] की परम्परा सभी शास्त्रों में मान्य है और न्यायशास्त्र भी अपवाद
है। विषय, अधिकारी, प्रयोजन और सम्बन्ध ही अनुबन्ध-चतुष्टय कहलाते हैं।
ार्थी को अपने शोध-विषय का ज्ञान होना चाहिए। बाद में यह 'विषय' उसका पक्ष
लाता है और शोध में यह विषय उसकी प्रतिज्ञा होती है। विषय-चयन के पूर्व
य का क्षेत्र-सर्वेक्षण आवश्यक माना जाता है। उपयुक्त शीर्षक-निर्माण का सम्बन्ध
इस विषय के अन्तर्गत ही आता है। प्रतिज्ञा का प्रत्येक शब्द परीक्षित एवं उपयुक्त
ा चाहिए अन्यथा प्रतिज्ञा-हानि से नहीं बचा जा सकता।

अपने शोध-विषय में शोधार्थी को प्रवृत्त होने से पूर्व यह भी देख लेना चाहिए कि
इस विषय के प्रतिपादन का अधिकारी है भी या नहीं। आधुनिक शोध-तन्त्र में
तिपादित 'शोधार्थी के गुण' के अन्तर्गत जिन योग्यताओं की अपेक्षा की जाती है,
सबका समावेश इस एक 'अधिकारी' शब्द में हो जाता है। स्वीकृत-विषय के

---

२. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्याय-विद्या न्याय-शास्त्रम्।
३. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।
४. प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धत्वम्।

शोध-प्रक्रिया में न्याय-शास्त्र की भूमिका

डा० छविनाथ त्रिपाठी
रीडर, हिन्दी-विभाग, कुरुक्षेत्र
विश्वविद्यालय

तत्त्व-शोध की प्रक्रिया ही न्याय-शास्त्र है। यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि इसका लक्ष्य है। यह उपलब्धि तर्क-सगत, प्रामाणिक एव बुद्धि को स्वीकार्य होनी चाहिए। यदि ज्ञान वस्तुत यथार्थ है, तो उसे मान्यता प्राप्त करने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही होगी। न्याय-शास्त्र तर्क-सगत उपलब्ध ज्ञान को भी परीक्षण की सीमा से बाहर नही रखता, यही कारण है कि 'सिद्धान्त' के नाम से प्रचलित तत्त्वो को भी वह चार कोटियो मे विभाजित कर देता है:—

सर्वतन्त्र सिद्धान्त, बार बार परीक्षित होकर सभी की मान्यता प्राप्त कर लेता है। प्रतितन्त्र सिद्धान्त सर्वमान्य तो नही होता, किन्तु उसे एक विशिष्ट वर्ग मान्यता प्रदान कर देता है, उदाहरण के लिए, मन का इन्द्रियत्व, न्याय और वैशेषिक मे मान्य है, अन्यत्र नही। अधिकरण-सिद्धान्त ऐसा प्रतिपादन है, जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर कुछ अन्य तथ्य भी स्वय सिद्ध हो जाते है। जैसे ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर उसकी सर्वज्ञता स्वय सिद्ध हो जायेगी। अभ्युपगम सिद्धान्त परीक्षणार्थ स्वीकृत सिद्धान्त है, उसे पुनः परीक्षण के पूर्व स्वीकृति दे दी जाती है। परीक्षण के निष्कर्ष ही उसे मान्य या अमान्य घोषित करते हैं।[1]

इन सिद्धान्तो की प्रतिष्ठा 'वाद' के द्वारा उपलब्ध निष्कर्षों पर आधारित होती थी। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध.' की उक्ति इसीलिए प्रचलित हुई। 'वाद' वह प्रयोगशाला है, जिसमे सिद्धान्तो और मान्यताओ का परीक्षण किया जाता है। आधुनिक युग की शोध-सगोष्ठियाँ प्राचीन शास्त्रार्थ-प्रणाली के नवीन रूप हैं। प्राचीन शास्त्रार्थ-प्रणाली मे विशिष्ट विद्वानो की मध्यस्थता-समिति भी होती थी, जो पक्ष-विपक्ष की तर्क-पद्धति का परीक्षण करती रहती थी और आवश्यकता पड़ने पर दोनो पक्षो के विचारो मे से एक को मान्यता प्रदान करती थी। आज की शोध-सगोष्ठियां

१. तर्क भाषा—पृ० २१८

प्रतिष्ठा या नूतन आख्यान द्वारा तत्त्वाभिव्यक्ति। 'आदर्श शोध-कार्य मुख्यत. आगमनात्मक पद्धति पर किया जाता है, जिसमे शोध-कर्त्ता मूल-सामग्री के तथ्यो का ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत कर देता है कि निष्कर्ष बरबस निकलते चले जाते हैं।'[5] 'शास्त्र के अंगो को सामने रख कर उनके आलोक मे जो विवेचन किया जायेगा वह निगमन पद्धति से ही होगा और साहित्य के अंगो का विश्लेषण करने के उपरान्त उपलब्ध तथ्यों का शास्त्र के नियमों के अनुसार जो अध्ययन होगा उसकी पद्धति अनुगम पद्धति होगी। इन दोनो पद्धतियो का उपयोग प्रत्येक प्रकार के अध्ययन के लिए किया जा सकता है।'[6] वस्तुत: न्यायशास्त्र द्वारा स्वीकृत इन दोनों पद्धतियो का अवलम्बन विषय की प्रकृति पर निर्भर करता है।

निगमन और आगमन पद्धति—

विषय-विवेचन की ये दोनो प्रक्रियाये न्यायशास्त्र से ग्रहण की गई हैं। इस प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझने के लिए अनुमान प्रमाण के पाँचो अवयवो—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन को जानना आवश्यक है। तर्क-भाषा मे इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है[7]—

१.	यह पर्वत अग्निमान् है।	(प्रतिज्ञा)
२.	धूमयुक्त होने से,	(हेतु)
३.	जो जो धूम-युक्त होता है, वह वह वह्नियुक्त भी होता है जैसे रसोई घर –	(दृष्टान्त)
४.	यह पर्वत भी उसी प्रकार का धूम-युक्त है।	(उपनय)
५.	अतः पर्वत अग्निमान् है।	(निगमन)

इस निगमन पद्धति का रूप शोध मे इस प्रकार व्यक्त होता है—

१.	निदिष्ट शोध-विषय	(प्रतिज्ञा)
२.	विषय-चयन का कारण	(हेतु)
३.	तथ्य-संकलन	(दृष्टान्त)
४.	तथ्यों का विषय की प्रकृति के अनुकूल विश्लेषण-संश्लेषण	(उपनय)
५.	निष्कर्ष	(निगमन)

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि निगमन-पद्धति मे जब प्रतिज्ञा प्रस्तुत की जाती है तब उसके हेतु का उल्लेख कर दिया जाता है। इस हेतु निर्देश के पीछे अग्नि और धूम के सम्बन्ध का ज्ञान निहित रहता है। इस ज्ञान के कारण ही प्रतिज्ञा प्रस्तुत की जाती है। हेतु के अभाव मे प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं रहता। प्रतिज्ञावाक्य और [illegible] मूल मे भी पूर्वज्ञान, हेतु-स्वरूप उपस्थित रहता है कि इस सम्बन्ध मे [illegible] प्रचुर

५. हिन्दी अनुशीलन, शोध विशेषांक, पृ० ८ पर श्री उमाशंकर शुक्ल।
६. अनुसंधान और आलोचना, पृ० ८१ पर डा० नगेन्द्र।
७. तर्क भाषा—पृ० ८०।

शोध के लिए शोधार्थी, अधिकारी है; इसका निर्णय पहले ही हो जाना चाहिए। वाद में यह कार्य मध्यस्थ करते हैं और शोध में निर्देशक या शोध-समिति।

'प्रयोजन' के दो रूप है। शोधार्थी किस प्रयोजन से कार्य में प्रवृत्त हो रहा है? केवल उपाधि प्राप्त करने के लिए अथवा निश्चित विषय में जिज्ञासा-तृप्ति के लिए? प्रयोजन का दूसरा रूप यह है कि वाद या शोध का विषय, यही निश्चित करने का प्रयोजन क्या है? यहां शोध-विषय की उपयोगिता तथा अधिकारी और विषय के साथ उसका सम्बन्ध सुस्पष्ट हो जाना चाहिए।

मध्यस्थ एवं निर्देशक—

वाद में मध्यस्थ वे ही होते है जो विषय-विशेषज्ञ हों और पक्ष-प्रतिपक्ष की युक्तियों एवं तर्कों की प्रामाणिकता पर निर्णय ले सकें। वाद में प्रतिपक्ष स्वयं अपनी युक्तियां प्रस्तुत करता है किन्तु आधुनिक शोध में शोधार्थी को स्वयं प्रतिपक्ष के कथनों को ढूंढ कर उन्हें न केवल प्रस्तुत करना पड़ता है, अपितु उनका परीक्षण कर, अपना प्रामाणिक मत प्रस्तुत करते हुए निष्कर्ष निकालना पड़ता है। वाद में केवल एक प्रतिपक्षी होता है शोध में अनेक प्रतिपक्षी भी हो सकते है। अतः निश्चय ही शोध की प्रवृत्ति वस्तु-निष्ठ या विषय-निष्ठ हो जाती है और शोधार्थी का ध्यान प्रतिपक्षी पर कम और प्रतिपक्ष के कथनों पर अधिक टिकता है। प्रतिपक्षी की प्रत्यक्ष उपस्थिति न होने के कारण भी, एक मात्र ध्यान वस्तु-विषय पर ही केन्द्रित होता है। प्रतिपक्षी का कथन लिखित होने के कारण भी किसी प्रकार के वाग्जाल की सम्भावना नहीं रहती और तथ्य-परकता पर ही दृष्टि रहती है। निश्चय ही उत्तम-वाद (तथ्य-विमर्श मात्र) के गुण आधुनिक शोध में निहित हैं। प्रतिपक्षी एवं मध्यस्थ की अनुपस्थिति में निर्देशक को दोनों प्रकार का कार्य सम्पन्न करना पड़ता है। वह यह भी देखता है कि प्रतिपक्ष के विचार उचित ढंग से प्रस्तुत किये गये हों, शोधार्थी की युक्तियां प्रामाणिक एवं तर्कसंगत हों, तथा निष्कर्ष, विवेचन के अनुकूल हों। वाद का सर्वोत्तम रूप गुरु-शिष्य के मध्य ही सम्पन्न होता है, पक्ष-प्रतिपक्ष के मध्य तो मध्यस्थता की आवश्यकता होती है, परन्तु गुरु-शिष्य का वाद, पूर्णतः विषय-निष्ठ एवं पूर्व तथा पर पक्ष के कथनों का परीक्षण कर एक निश्चित निष्कर्ष निकालने की ओर होता है। इस स्थिति में ही शोधार्थी के लिए निर्देशक वास्तविक गुरु बनता है। न्यायशास्त्र ही नहीं सभी भारतीय दर्शनों की विवेचन-प्रणाली में पूर्व-पक्ष को पूर्णतः एवं स्पष्ट रूप में उद्धृत कर उसके विश्लेषण एवं खंडन के साथ स्वपक्षप्रतिपादन का नियम चला आ रहा है। यह पद्धति शोधार्थी और निर्देशक के मध्य, शोध-सन्दर्भों का स्पष्ट पथ-प्रदर्शन करती है।

[illegible] —

[illegible] में प्रवृत्त शोधार्थी एक निश्चित प्रक्रिया का अनुसरण करता है। इस [illegible] प्रमुख है—[illegible], वर्गीकरण, विश्लेषण, [illegible], [illegible], निष्कर्ष, [illegible] निष्कर्षों का [illegible] और [illegible]

प्रतिष्ठा या नूतन आख्यान द्वारा तत्त्वाभिव्यक्ति। 'आदर्श शोध-कार्य मुख्यत: आगमनात्मक पद्धति पर किया जाता है, जिसमें शोध-कर्त्ता मूल-सामग्री के तथ्यों का ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत कर देता है कि निष्कर्ष बरबस निकलते चले जाते हैं।'[5] 'शास्त्र के अंगों को सामने रख कर उसके आलोक में जो विवेचन किया जायेगा वह निगमन पद्धति में ही होगा और साहित्य के अंगों का विश्लेषण करने के उपरान्त उपलब्ध तथ्यों का शास्त्र के नियमों के अनुसार जो अध्ययन होगा उसकी पद्धति अनुगम पद्धति होगी। इन दोनों पद्धतियों का उपयोग प्रत्येक प्रकार के अध्ययन के लिए किया जा सकता है।'[6] वस्तुत: न्यायशास्त्र द्वारा स्वीकृत इन दोनों पद्धतियों का अवलम्बन विषय की प्रकृति पर निर्भर करता है।

निगमन और आगमन पद्धति—

विषय-विवेचन की ये दोनों प्रक्रियायें न्यायशास्त्र से ग्रहण की गई हैं। इस प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से समझने के लिए अनुमान प्रमाण के पाँचों अवयवों—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन को जानना आवश्यक है। तर्क-भाषा में इसे निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है[7]—

१. यह पर्वत अग्निमान् है। (प्रतिज्ञा)
२. धूमयुक्त होने से, (हेतु)
३ जो जो धूम-युक्त होता है, वह वह वह्नियुक्त भी होता है, जैसे रसोई घर – (दृष्टान्त)
४. यह पर्वत भी उसी प्रकार का धूम-युक्त है। (उपनय)
५. अतः पर्वत अग्निमान् है। (निगमन)

इस निगमन पद्धति का रूप शोध में इस प्रकार व्यक्त होता है—

१. निर्दिष्ट शोध-विषय (प्रतिज्ञा)
२. विषय-चयन का कारण (हेतु)
३. तथ्य-संकलन (दृष्टान्त)
४. तथ्यों का विषय की प्रकृति के अनुकूल विश्लेषण-संश्लेषण (उपनय)
५. निष्कर्ष (निगमन)

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि निगमन-पद्धति में जब प्रतिज्ञा प्रस्तुत की जाती है तब उसके हेतु का उल्लेख कर दिया जाता है। इस हेतु निर्देश के पीछे अग्नि और धूम के सम्बन्ध का ज्ञान निहित रहता है। इस ज्ञान के कारण ही प्रतिज्ञा प्रस्तुत की जाती है। हेतु के अभाव में प्रतिज्ञा का कोई मूल्य नहीं रहता। प्रतिज्ञा के मूल में भी पूर्वज्ञान, हेतु-स्वरूप उपस्थित रहता है कि इ [illegible]

५. हिंदी
६.
७

सामग्री उपलब्ध हो सकती है। उदाहरण के लिए—एक शोधार्थी 'तुलसी दास के विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त का अध्ययन' शोध के लिए विषय चुनता है। इस विषय-चयन के मूल में उसका यह पूर्वज्ञान हेतु स्वरूप कार्य करता है कि तुलसीदास का विशिष्टाद्वैत से सम्बन्ध है तथा उनकी कृतियों से प्रचुर तथ्य इसके पोषण में उपलब्ध हो सकते हैं। उसका तथ्य-सकलन इस प्रतिज्ञा से बँधा होगा। प्रतिपक्षी तथ्यों को वह अपनी प्रतिज्ञा के मार्ग में बाधक नहीं बनने देगा। वह यह कह कर उनकी उपेक्षा भी कर सकता है कि उनके अन्य प्रकार के विचारों का अध्ययन मेरी विषय-सीमा में नहीं आता।

आगमन-पद्धति में प्रतिज्ञा और हेतु नहीं होते, शेष तीन रहते हैं। शोध-प्रक्रिया में आगमन-पद्धति का कार्यारम्भ तथ्य-संकलन से होता है, और अन्त निष्कर्ष से; किन्तु ये निष्कर्ष अभ्युपगम-सिद्धान्त के सदृश ही होते हैं और उनका पुन. परीक्षण आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए शोधार्थी का विषय, यदि 'तुलसीदास के दार्शनिक विचारों का मूल्यांकन' हो तो उसके इस विषय में कोई प्रतिज्ञा नहीं है। 'दार्शनिक' शब्द शोध की दिशा या मर्यादा मात्र का निर्देश करता है। यहां कार्य प्रारम्भ पक्ष-विपक्ष या परस्पर विरोधी, सभी प्रकार के दार्शनिक-विचारों को तथ्य-संकलन के समय ग्रहण करने से होगा। उसके विश्लेषण-संश्लेषण से जो भी निष्कर्ष निकले, शोधार्थी उसका पुनः परीक्षण कर स्वीकार कर लेता है। मान लिया जाय कि निष्कर्ष यह निकलता है कि तुलसीदास जी विशिष्टाद्वैतवादी हैं; ऐसी परिस्थिति में विशिष्टाद्वैतवाद की मान्यताओं के आधार पर इस निष्कर्ष का पुनः परीक्षण आवश्यक होगा, अतः इस निष्कर्ष का मूल्य अभ्युपगम सिद्धान्त सदृश ही होता है। परीक्षणोपरान्त यदि निष्कर्ष सत्य सिद्ध होता है तो वह सर्वमान्य, सर्वतन्त्र सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लेगा। यह स्पष्ट है कि शोध के लिए दोनों पद्धतियां समान रूप से ग्राह्य एवं न्याय-शास्त्र की देन है।

शोध-प्रक्रिया के अन्य अवयवों में भी न्याय-शास्त्र की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं है—

तथ्य-संकलन में—

प्रायः शोधार्थी के समक्ष तथ्यों का चयन एक समस्या प्रतीत होती है। वह किन तथ्यों का संकलन करे? कहां से करे? कितना करे? और कैसे करे?[१] इन प्रश्नों का उत्तर जाने बिना वह बहुत सारा कूड़ा-कचरा और असम्बद्ध सामग्री एकत्र कर लेता है। सामान्यतः इन प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है कि वह विषय से सम्बद्ध सामग्री संकलित करे, उतना ही संकलित करे जो शोध-विषय के प्रस्तुतीकरण में सहायक हो। सामग्री प्रामाणिक सन्दर्भ-ग्रन्थों से संकलित करे तथा ४"×६" के कार्ड पर करे।[२] अतः, उनका सन्दर्भ एवं अपनी प्रतिक्रिया लिखने के साथ ही साथ वह यह भी

१. 'हिन्दी अनुशीलन', [illegible], पृ० १०
२. An Introduction to Research, Page 283.

करता चले कि यह सामग्री उसके लिए वहाँ, जिस अध्याय में उपयोगी सिद्ध हो है[10]। सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि वह सामग्री संकलन कब बन्द करे। श्रेणी के ग्रन्थों से पहले और द्वितीय श्रेणी के ग्रन्थों से बाद में तथ्य संकलित किये जब नये तथ्यों की उपलब्धि न हो तो तथ्य-संकलन का कार्य समाप्त समझा चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि एक कार्ड पर तथ्य की एक ही इकाई हो, ही वह एक या दो वाक्य का ही क्यों न हो[11]।

तथ्यों की ओर प्रवृत्ति और उनके संकलन का कारण विषय-चयन के कारण से नहीं है। अत: न्याय-दर्शन का हेतु और भी विचारणीय बन जाता है। न्याय के एक प्राचीन सम्प्रदाय में हेतु के दस अवयव माने गये है[12]—जिज्ञासा, संशय, प्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास के अतिरिक्त बाद की न्याय-परम्परा में -पक्ष सत्व, सपक्ष सत्व, विपक्षव्यावृतत्व, असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधित विषयत्व। सा आदि पाँचों को शोधार्थी की शोध-विषयोन्मुखता का हेतु माना जाता है और सत्वादि पाँचों को विषयानुकूल तथ्य-संकलन का हेतु। इनमें भी आरम्भ के तीन दिशा-निर्देशक है[13]। सामान्य भाषा में कहा जाय तो इन तीनों हेतुओं का अर्थ है कि पक्ष (विषय) का प्रतिपादन, पक्ष-समर्थक तथ्य को उद्धृत एवं विपक्ष का करण किया जाये। तथ्य-संकलन इन हेतुओं को ध्यान में रख कर ही ना चाहिए।

तथ्यों की प्रामाणिकता पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। संदर्भ ग्रन्थ प्रामाणिक कों के हो और तथ्य भी प्रामाणिक हो; इस 'प्रामाणिक' को समझने में न्याय- ही सहायक होता है। संशय, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) और तर्क-ज्ञान से भिन्न र्थ अनुभव (ज्ञान) का नाम प्रमा है[14]। जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में ग्रहण ा ही यथार्थ ज्ञान है। ज्ञात-विषय का ज्ञान तो स्मृति कहलाती है, अत अज्ञात य का पहली बार ठीक ठीक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है और यही 'प्रमा' शोध का मुख्य है। नूतन आख्यान भी प्रथम बार अभिव्यक्त होने के कारण यथार्थ ज्ञान है। यदि आख्यान में नूतनता नहीं है तो वह स्मृति (या पिष्ट-पेषण) से भिन्न नहीं कहा जा ता है। इस प्रमा के साधन को ही प्रमाण कहा जाता है[15] और प्रमाण-सिद्ध पदार्थ थन ही प्रामाणिक कहलाता है।

---

१०. वही, पृ० २६२ (Lable, Material and Source).
११. वही, पृ० २६३।
१२ न्याय-शास्त्र भाष्य १/१/३२ में वात्स्यायन।
१३. प्रशस्तपाद भाष्य—पृ० ६००।
१४. यथार्थानुभव प्रमा। तर्क भाषा, पृ० १४।
१५. प्रमाकरणं प्रमाणम्। तर्क भाषा, पृ० १३, प्र+√मा+ल्युट्=प्रमाण प्रकृष्ट ज्ञान (प्रतिमान)।

नियोजन की आवश्यकता पर बल दिया जाता है।[19] प्रस्तुतीकरण को बुद्धि-ग्राह्य बनाने लिए—'संत हंस गुन पय गहहिं, परिहरि वारि विकार,' 'ग्रन्थ अमित अति आखर थोरे' तथा 'नामूलं लिख्यते किंचित्' आदि सूक्तियों का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रसंग मे संदर्भों के संकेत देने की पद्धति भी चर्चित होती है। सदर्भोल्लेख की शैली कोई भी हो, वह इतनी स्पष्ट होनी चाहिए कि पाठक को किसी कठिनाई का सामना न करना पड़े।[20]

प्रस्तुतीकरण के समय वस्तुनिष्ठता पर इतना अधिक बल दिया जाता है कि शोधार्थी की सर्जनात्मक प्रतिभा निष्क्रिय रह जाती है। निजी दृष्टिकोण की अप्रत्यक्ष प्रतिष्ठा तो प्रस्तुतीकरण मे हो ही जाती है, अन्यथा एक ही विषय के प्रतिपादन मे दो शोधार्थियों के शोध-प्रबन्धो मे भिन्नता न दिखाई पड़ती, परन्तु सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रयोग, निजी दृष्टिकोण के प्रयोग से भिन्न है। एक शोध-प्रबन्ध मे सृजन-क्षमता के प्रयोग की छूट होनी चाहिए या नहीं, यह छूट किस सीमा तक दी जाय, आदि प्रश्न अब भी विवाद के विषय बने हुए हैं।[21] 'वस्तुनिष्ठता की सुरक्षा के साथ सर्जनात्मक प्रतिभा के उपयोग की छूट' एक समन्वयवादी मार्ग हो सकता है, परन्तु दोनो के पारस्परिक विरोध के कारण यह समन्वय सरल नहीं है।

प्रस्तुतीकरण के सम्बन्ध मे न्याय-शास्त्र ही सारे शास्त्रो का पथ-प्रदर्शन करता है। वह स्वय अपने लिए भी एक विशिष्ट पद्धति का निर्माण करता है। सर्व प्रथम भाष्यकार वात्स्यायन ने इस पद्धति के विषय मे स्पष्ट उल्लेख किया है। न्याय शास्त्र की प्रवृत्ति, उद्देश, लक्षण और परीक्षा के रूप मे तीन प्रकार की होती है।[22] नाम मात्र से वस्तु का कथन उद्देश, कहलाता है। शोध के अन्तर्गत विषय ही उद्देश है। असाधारण धर्म का कथन लक्षण कहलाता है। यह अतिव्याप्ति अव्याप्ति, और असम्भव दोषो से रहित होता है। यदि इन दोषो से रहित विषय का नाम (शीर्षक) हो तो शोध-विषय

---

१६. हिन्दी अनुशीलन, शोध विशेषांक पृ० १६-१७ पर डा० राम कुमार वर्मा।

२०. ......but the reader hates to have to keep turning back to the bibliography, and it is not fair for a writer to cater to his own convenience at the expense of the reader.
An Introduction to Research, by Chancey Sanders, Page 304-305.

२१. There is some merit in this complaint, and some graduate schools are permitting their students to fulfil the thesis requirement by doing creative writing. On behalf of the more conservative institution, however, those that still insist upon the orthodox type of thesis. वही पृ० १११।

२२. त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। न्याय सूत्र, १।१।२ पर वात्स्यायन भाष्य।

का निरूपण स्पष्ट और सुकर हो सकता है। शोध-विषय का शीर्षक ऐसा हो[ना] चाहिए जो अपने अतिरिक्त अन्य विषय में भी न विस्तृत हो जाय (अतिव्याप्ति र[हित]) वह ऐसा भी न हो, जो पूर्ण ही प्रतीत न हो, और उसके किसी अंग-विशेष [का] निरूपण उसके ही पूर्ण शरीर का अवयव न प्रतीत हो (अव्याप्ति दोष रहित)। वि[षय] का शीर्षक ऐसा भी न हो जिसका प्रतिपादन ही असंभव हो या शोध का विषय [ही] न बन सके, (असंभव दोष रहित)। उद्देश, लक्षण और परीक्षा के अतिरिक्त ए[क] 'विभाग' की और भी स्थिति मानी जाती है[13] जो उद्देश के अन्तर्गत ही न्याय शास्त्र[कारों] ने समाविष्ट कर ली है। अध्यायों का विभाजन नाम (शीर्षक) के अनुरूप एवं पू[र्ण] विवेचन की दृष्टि से किया जाना चाहिए, यही इस विभाग का तात्पर्य है। प्रमाणों द्वारा लक्षण, कथन या प्रतिपादन का परीक्षण ही 'परीक्षा' है। तथ्य तो विषयानुरू[प] ही होते हैं, उनके विश्लेषण-संश्लेषण और निष्कर्षों को मिला कर ही शोध-प्रबन्ध [का] आकार मिलता है। इस समग्र आकार का लक्षण शोध और विषय के शीर्षक में निहि[त] होता है, अतः परीक्षा का मुख्य कार्य यह देखना है कि विषय-वस्तु का प्रतिपादन विषयानुकूल है अथवा उसमें किसी प्रकार का दोष आ गया है। 'विभाग' विवेचन की सुगमता के लिए है, अतः तथ्य-विश्लेषण भी इसमें समाविष्ट हो जाता है। उद्देश, विभाग, लक्षण और परीक्षा भी शोधार्थी की प्रक्रिया में सहायक होते हैं।

तथ्यों का क्रमबद्ध रूप देना और तर्क-सगत रीति से उन्हें प्रस्तुत करना ही संश्लेषण है। विवेचन की अन्विति का दर्शन उसकी परीक्षा है। विपक्षी मतों का व्यावृत्तत्व भी यहीं सम्पन्न होता है। न्याय-दर्शन सपक्ष—सत्व में अथवा विपक्ष-व्यावृत्तत्व में ऐसे तर्कों को स्वीकार नहीं करता जो जल्प या वितण्डा के अन्तर्गत आते है। वह ऐसे प्रमाणों को भी स्वीकार नहीं करता जिनकी आप्तता संदिग्ध है। आधुनिक शोध में भी उद्धृत-उद्धरणों को महत्त्व नहीं दिया जाता, जब तक कि उद्धरणों के मूल स्रोत का निर्देश न किया जाय और उनकी आप्तता संदेह से परे न हो।

तथ्यों के संश्लेषण और विवेचन-प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य निष्कर्ष तक पहुँचना है। न्याय-दर्शन का तर्क-बोध ही इसे सर्क-सगत बनाता है। तथ्य कारण है और निष्कर्ष कार्य, इन कारणों की उत्पत्ति में तत्त्व ज्ञान के लिए ऊहा ही तर्क है तथा अविज्ञात सत्यार्थ (निष्कर्ष) का ज्ञान ही इस तर्क का परिणाम है।[14] तथ्यों को युक्ति-पूर्वक प्रस्तुत करना और निष्कर्ष तक पहुँचना शोधार्थी की निजी प्रतिभा की सहायता से ही सम्पन्न होता है। विवेचन-प्रक्रिया में स्तर-भेद यहीं उत्पन्न होता है।

[illegible] का पृथक् विवेचन तो नहीं किया गया है, किन्तु न्याय-शास्त्रियों ने इसे [illegible] और [illegible] के [illegible]-निरूपण के समय प्रस्तुत किया है। इसके तीन प्रकार

---

13 [illegible] १।१।३ और [illegible] —पृ० १२

14 [illegible] । [illegible], पृ० ११/[illegible]

माने गये हैं—आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि । वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्दों में परस्पर आकांक्षा रहती है। शब्दों में अर्थबोध कराने की योग्यता होती है और उनकी पारस्परिक समीपता 'परस्परान्वय' को सक्षम बनाती है, अतः आकांक्षा, योग्यता-सम्पन्न सन्निहित पदों का समूह ही वाक्य कहलाता है।[25] शब्द और वाक्य के पारस्परिक सम्बन्ध को देख कर अन्विति-ज्ञान स्पष्ट हो जाता है।

एक अध्याय के अन्तर्गत तथ्यों का संश्लेषण किस प्रकार हुआ है, इसकी परीक्षा आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर की जा सकती है। क्या प्रयुक्त सारे तथ्य परस्पर साकांक्ष हैं ?' क्या इन तथ्यों में निष्कर्ष बोध कराने की या निष्कर्ष तक पहुंचाने की योग्यता है ? ये तथ्य क्या परस्पर सन्निविष्ट हैं या ये परस्पर विच्छिन्न तो प्रतीत नहीं होते ? विवेचन के स्वरूप की परीक्षा इन प्रश्नों के आधार पर की जा सकती है। सारा अध्याय एक वाक्य है, तथ्य ही शब्द हैं, निष्कर्ष ही अर्थ-बोध है; यही अन्विति-दर्शन है । सारे अध्याय शब्द हैं, पूर्ण शोध-प्रबन्ध वाक्य है और उसकी देन या महत् निष्कर्ष ही अर्थ-बोध है, यह अन्विति-दर्शन का दर्शन है।

अनुशीलन की समस्याएं और न्याय-शास्त्र—

शोध-कार्य में पग-पग पर बाधाएं खड़ी होती हैं और शोधार्थी को निरन्तर सतर्क रहना पड़ता है। थोड़ी सी भी असावधानी उसे संशय, जल्प और वितण्डा में फंसा सकती है; तर्क संगतता समाप्त हो सकती है और हेत्वाभासों में उलझ कर किसी निर्णय पर पहुंचने में असमर्थ बना सकती है, तत्त्वज्ञानेच्छुओं की सदा ही बाधा बनती है।[26] शोधार्थी भी तत्त्वज्ञानेच्छुक होता है और उसे पक्ष-विपक्ष के विचारों को समान रूप से प्रस्तुत करने के कारण वादी-प्रतिवादी दोनों का ही कार्य पूरा करना पड़ता है। निग्रह-स्थान दोनों को ही सतर्क करते हैं, अतः शोधार्थी के लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। छल और असत् उत्तर (जाति) के लिए तो शोध में स्थान ही नहीं होता।

न्याय-शास्त्र में २२ निग्रह-स्थान गिनाये गए हैं। वे हैं प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञा संन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास।'

इन निग्रह-स्थानों के नाम ही इनका अर्थ-बोध कराते हैं। शोध विषय में इनकी परिहार्यता की परख के लिए इनका वर्गीकरण उपयुक्त रहेगा।

प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा विरोध और प्रतिज्ञा संन्यास का सम्बन्ध

२४ तर्क भाषा—पृ० १०८

२५ तत्त्वकुमुदी [illegible] । [illegible] भाषा, पृ० २४३

२६ न्यायसूत्र ५।१।१

विषय च्युति या लक्ष्य-भ्रष्टता से है। शोध-विषय ही शोधार्थी की प्रतिज्ञा है, चाहे वह वस्तु निष्ठ हो या समाधानगत। उसकी समस्या ही उसकी प्रतिज्ञा है। वह समस्या ही छोड़ बैठे, कार्य के बीच मे ही दूसरी समस्या ले बैठे, स्वयं अपनी ही प्रतिज्ञा का विरोध करने लगे या अपनी ही प्रतिज्ञा के प्रति उदासीन हो जाय तो शोध-कार्य की असफलता निश्चित हो जाती है। प्रस्तुतीकरण के समय उसे अपने शोध-विषय रूप प्रतिज्ञा के प्रति सदा सलग्न रहना चाहिए। ऐसे तथ्यों के प्रति भी उसे सतर्क रहना होगा जो उसे विषयान्तर की ओर ले जाय या विषय के प्रतिपादन के अनुकूल न हो। प्रतिज्ञा-विषयक हानि, अन्तर, विरोध या संन्यास, विषय प्रतिपादन के प्रतिकूल तत्त्व हैं। इनका प्रयोग शोधार्थी की विषय-ग्राहिणी अविचल-क्षमता के अभाव का सूचक है।

वाद के विषय से सम्बन्धित सभी तथ्यों में से कुछ को न जानना ही अज्ञान है; क्योंकि ऐसे प्रसंग की चर्चा होने पर पराजित होना पड़ेगा। यही स्थिति शोधार्थी की है। उसे विषय से सबद्ध सभी क्षेत्रो का सर्वेक्षण कर सभी तथ्यो को सकलित करने के उपरान्त उन्हे विवेचन का विषय बनाना पड़ता है। ऐसा न करने पर अज्ञता सूचित होती है और शोध-प्रबन्ध अपूर्ण रह जाता है।

पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग और अप्राप्तकाल का सीधा सम्बन्ध तथ्य-संश्लेषण से है। जिन तथ्यों का उपयोग करना है, उनकी उपेक्षा कर दी जाय या अनावश्यक तथ्यो को जोड़ दिया जाय तो सश्लेषण, तर्क सगत निष्कर्ष निकालने में असफल हो जायेगा। किस तथ्य का किस अवसर पर उपयोग किया जाय, यह प्राप्त-काल है। इससे विपरीत अप्राप्तकाल है। ये तीनों महत्त्वपूर्ण सतर्कताएं हैं। इनकी उपस्थिति सामग्री के उपयोग की असमर्थता सूचित करती है।

हेतु सम्बन्धी दो निग्रह स्थान हैं—हेत्वन्तर और हेत्वाभास।[18] कारण कुछ और दिये जायें तथा परिणाम (कार्य) कुछ और निकाला जाय, अथवा वास्तविक कारण न होने हुए भी कारण प्रतीत होने वाले तथ्यो से निर्णय तक पहुचने का प्रयत्न किया जाय तो असफलता ही हाथ लगेगी। तथ्य और निष्कर्ष की असंगति तो शोध-प्रबन्ध मे भी महान् दोष समझी जाती है। तर्क-ज्ञान का अभाव ही इन दो दोषो को उत्पन्न करता है।

अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ और अपार्थक का सम्बन्ध तथ्यार्थबोध से है। ये सतर्कताएं तथ्य-सकलन और प्रस्तुतीकरण, इन दोनों ही अवसरों पर उपयोगी सिद्ध होती हैं। तथ्यार्थ कुछ हो और कुछ भिन्न अर्थ समझ कर उसे संकलित किया जाय, विषय से असंबद्ध निरर्थक तथ्य लिया जाय, जिसका अर्थ ही ज्ञात न हो उसे ग्रहण किया जाय या तथ्य का निकृष्ट अर्थ निकाल लिया जाय, तो यह स्पष्ट है कि ऐसे तथ्य उपयोगी सिद्ध नहीं होंगे। यही स्थिति प्रस्तुतीकरण के समय भी उपस्थित

---

१८. द्रष्टव्य—हेत्वाभास का विस्तृत विवेचन, तर्क भाषा—पृ० २४६

होती है। प्रकृत विषय से असंबद्ध अर्थ को कहना ही अर्थान्तर है। अनुपयोगी, बिना अर्थ जाने तथा निकृष्ट अर्थ करके, किसी तथ्य को प्रस्तुत करने का परिणाम भी स्पष्ट ही उचित निर्णय तक पहुंचने में असफलता का कारण होगा।

न्यून, अधिक पुनरुक्त और अननुभाषण का सम्बन्ध कथन या प्रतिपादन की शैली से है। आवश्यकता से कम या अधिक कहना, एक ही कथन को दोहराना या कहने के अवसर पर मौन धारण कर लेना ऐसे दोष है जो वाद और शोध के प्रस्तुतीकरण में अक्षम्य समझे जाते हैं। न्यून, अधिक और पुनरुक्त से बचने के लिए ही 'सत हूंम···' आदि सूक्तियां शोध-जगत् में प्रचलित हैं। विवक्षित अर्थ से कम कहना विचाराभिव्यक्ति की असमर्थता है। विवक्षित अर्थ से अधिक कहना प्रलाप ही समझा जायेगा। इन सतर्कताओं का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है अतः भाषा के सौष्ठव के सम्बन्ध में भी इन्हें लागू किया जा सकता है। भाषा भी न्यून, अधिक और पुनरुक्त, दोष से मुक्त होनी चाहिए।

'अननुभाषण' अधिक विचारणीय है। इस पर विचार करने से पूर्व 'अप्रतिभा' निग्रह स्थान से इसकी भिन्नता स्पष्ट करना आवश्यक है। उत्तर न सूझना 'अप्रतिभा' है।[१९] उत्तर न सूझने पर मौन रह जाना एक प्रकार की विवशता है। अननुभाषण' में विवशता नहीं है; यही कारण है कि निग्रह स्थानों में दोनों का समावेश किया गया है। 'अननुभाषण' का अर्थ है, उस अवसर पर भी मौन-ग्रहण कर लेना, जब निजी दृष्टिकोण' की अभिव्यक्ति अपेक्षित हो। न्याय-शास्त्र वाद में 'अननुभाषण' को दोष मानता है और निजी दृष्टिकोण तथा युक्तियों के महत्त्व को स्वीकार करता है। आधुनिक शोध में तथ्यों के उपयोग के समय निजी युक्तियों के प्रयोग को स्वीकृति प्राप्त है, पर निष्कर्षों पर निजी 'अननुभाषण' की अनुमति नहीं दी जाती। शोध-प्रबन्ध की उपलब्धियों के सम्बन्ध में यदि उसे कुछ कहना ही है तो वह भूमिका में कह सकता है, वह भी मर्यादित रूप में एक सीमा के भीतर। वह सीमा रेखा भावी सभावनाओ के निर्देश तक ही सीमित है। शोध की सीमा, निष्कर्ष तक सीमित है; अतः 'अननुभाषण' की सतर्कता तथ्यों के प्रस्तुतीकरण तक ही उपयोगी बनती है।

अब बाईस निग्रह स्थानो मे से केवल शेष तीन विक्षेप, मतानुज्ञा और अपसिद्धान्त बच जाते हैं। अपने अभीष्ट अर्थ का स्वयं खंडन कर देने से विक्षेप, दूसरे के अभिमत को अपने प्रतिकूल होते हुए भी स्वीकार कर लेने से मतानुज्ञा तथा अपने ही सिद्धान्त से च्युत होने के कारण अपसिद्धान्त, दोष उत्पन्न होते हैं। ये वाद में अधिक उपयोगी हैं, यद्यपि इन सतर्कताओं का पालन प्रतिज्ञाबद्ध या समाधानगत शोध की दृष्टि से भी आवश्यक है। शोध-प्रबन्ध में भी अपने कथनों के पारस्परिक विरोध से बचा जाता है।

---

१९. उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा। वहीं धारा, पृ० २६१

विषय च्युति या लक्ष्य-भ्रष्टता से है। शोध-विषय ही शोधार्थी की प्रतिज्ञा है, चाहे वह वस्तु निष्ठ हो या समाधानगत। उसकी समस्या ही उसकी प्रतिज्ञा है। वह समस्या ही छोड़ बैठे, कार्य के बीच मे ही दूसरी समस्या ले बैठे, स्वयं अपनी ही प्रतिज्ञा का विरोध करने लगे या अपनी ही प्रतिज्ञा के प्रति उदासीन हो जाय तो शोध-कार्य की असफलता निश्चित हो जाती है। प्रस्तुतीकरण के समय उसे अपने शोध-विषय रूप प्रतिज्ञा के प्रति सदा संलग्न रहना चाहिए। ऐसे तथ्यो के प्रति भी उसे सतर्क रहना होगा जो उसे विषयान्तर की ओर ले जाय या विषय के प्रतिपादन के अनुकूल न हो। प्रतिज्ञा-विषयक हानि, अन्तर, विरोध या संन्यास, विषय प्रतिपादन के प्रतिकूल तत्व हैं। इनका प्रयोग शोधार्थी की विषय-ग्राहिणी अविचल-क्षमता के अभाव का सूचक है।

वाद के विषय से सम्बन्धित सभी तथ्यो मे से कुछ को न जानना ही अज्ञान है; क्योंकि ऐसे प्रसग की चर्चा होने पर पराजित होना पड़ेगा। यही स्थिति शोधार्थी की है। उसे विषय से सबद्ध सभी क्षेत्रो का सर्वेक्षण कर सभी तथ्यों को सकलित करने के उपरान्त उन्हें विवेचन का विषय बनाना पड़ता है। ऐसा न करने पर अज्ञता सूचित होती है और शोध-प्रबन्ध अपूर्ण रह जाता है।

पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग और अप्राप्तकाल का सीधा सम्बन्ध तथ्य-संकलन से है। जिन तथ्यो का उपयोग करना है, उनकी उपेक्षा कर दी जाय या अनावश्यक तथ्यों को जोड़ दिया जाय तो संकलन, तर्क संगत निष्कर्ष निकालने मे असफल हो जायेगा। किस तथ्य का किस अवसर पर उपयोग किया जाय, यह प्राप्त-काल है। इससे विपरीत अप्राप्तकाल है। ये तीनों महत्वपूर्ण सतर्कताएं हैं। इनकी उपस्थिति सामग्री के उपयोग की असमर्थता सूचित करती है।

हेतु सम्बन्धी दो निग्रह स्थान हैं—हेत्वन्तर और हेत्वाभास।[१५] कारण कुछ और दिखे जायें तथा परिणाम (कार्य) कुछ और निकाला जाय, अथवा वास्तविक कारण न होते हुए भी कारण प्रतीत होने वाले तथ्यों से निर्णय तक पहुंचने का प्रयत्न किया जाय तो हास्यास्पदता ही हाथ लगेगी। तथ्य और निष्कर्ष की असंगति तो शोध-प्रबन्ध में भी महान् दोष समझी जाती है। तर्क-ज्ञान का अभाव ही इन दो दोषों का उत्पादक कारण है।

अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ और अपार्थक का सम्बन्ध तथ्यार्थबोध से है। [illegible] पद-प्रयोग और प्रस्तुतीकरण, इन दोनों ही अवसरों पर उपयोगी सिद्ध होते हैं। तथ्यार्थ कुछ हो और कुछ भिन्न अर्थ समझ कर उसे संकलित किया जाय, [illegible] निरर्थक [illegible] किया जाय, जिसका अर्थ ही ज्ञात न हो उसे [illegible] का [illegible] विरुद्ध अर्थ [illegible] किया जाय, तो यह स्पष्ट है कि ऐसे [illegible] सिद्ध नहीं होंगे। यही स्थिति प्रस्तुतीकरण के समय भी उपस्थित

---

१५ [illegible] — पृ० [illegible]

होती है। प्रकृत विषय से असंबद्ध अर्थ को कहना ही अर्थान्तर है। अनुपयोगी, बिना अर्थ जाने तथा निकृष्ट अर्थ करके, किसी तथ्य को प्रस्तुत करने का परिणाम भी स्पष्ट ही उचित निर्णय तक पहुंचने में असफलता का कारण होगा।

न्यून, अधिक पुनरुक्त और अननुभाषण का सम्बन्ध कथन या प्रतिपादन की शैली से है। आवश्यकता से कम या अधिक कहना, एक ही कथन को दोहराना या कहने के अवसर पर मौन धारण कर लेना ऐसे दोष है जो वाद और शोध के प्रस्तुतीकरण में अक्षम्य समझे जाते हैं। न्यून, अधिक और पुनरुक्त से बचने के लिए ही 'नेत हम···' आदि सूक्तियां शोध-जगत् में प्रचलित हैं। विवक्षित अर्थ से कम कहना विचाराभिव्यक्ति की असमर्थता है। विवक्षित अर्थ से अधिक कहना प्रलाप ही समझा जायेगा। इन सतर्कताओं का सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है अतः भाषा के सौष्ठव के सम्बन्ध में भी इन्हें लागू किया जा सकता है। भाषा भी न्यून, अधिक और पुनरुक्त, दोष से मुक्त होनी चाहिए।

'अननुभाषण' अधिक विचारणीय है। इस पर विचार करने से पूर्व 'अप्रतिभा' निग्रह स्थान से इसकी भिन्नता स्पष्ट करना आवश्यक है। उत्तर न सूझना 'अप्रतिभा' है।[१८] उत्तर न सूझने पर मौन रह जाना एक प्रकार की विवशता है। अननुभाषण' में विवशता नहीं है; यही कारण है कि निग्रह स्थानों में दोनों का समावेश किया गया है। 'अननुभाषण' का अर्थ है, उस अवसर पर भी मौन-ग्रहण कर लेना, जब निजी दृष्टिकोण' की अभिव्यक्ति अपेक्षित हो। न्याय-शास्त्र वाद में 'अननुभाषण' को दोष मानता है और निजी दृष्टिकोण तथा युक्तियों के महत्त्व को स्वीकार करता है। आधुनिक शोध में तथ्यों के उपयोग के समय निजी युक्तियों के प्रयोग को स्वीकृति प्राप्त है, पर निष्कर्षों पर निजी 'अननुभाषण' की अनुमति नहीं दी जाती। शोध-प्रबन्ध की उपलब्धियों के सम्बन्ध में यदि उसे कुछ कहना ही है तो वह भूमिका में कह सकता है, वह भी मर्यादित रूप में एक सीमा के भीतर। वह सीमा रेखा भावी सम्भावनाओं के निर्देश तक ही सीमित है। शोध की सीमा, निष्कर्ष तक सीमित है; अतः 'अननुभाषण' की सतर्कता तथ्यों के प्रस्तुतीकरण तक ही उपयोगी बनती है।

अब बाईस निग्रह स्थानों में से केवल दोष तीन विरोध, मतानुज्ञा और अपसिद्धान्त बच जाते हैं। अपने अभीष्ट अर्थ का स्वयं खंडन कर देने से विरोध, दूसरे के अभिमत को अपने प्रतिकूल होते हुए भी स्वीकार कर लेने से मतानुज्ञा तथा अपने ही सिद्धान्त से च्युत होने के कारण अपसिद्धान्त, दोष उत्पन्न होते हैं। ये वाद में अधिक उपयोगी हैं, यद्यपि इन सतर्कताओं का पालन प्रतिज्ञाबद्ध या समाधानपरक शोध की दृष्टि से भी आवश्यक है। शोध-प्रबन्ध में भी अपने कथनों के पारस्परिक विरोध से बचा जाना है।

---

१८. उत्तराप्रतिस्फूर्ति अप्रतिभा। तर्क भाषा

मतानुज्ञा में यह सिद्ध होता है कि शोधार्थी स्वयं अपने द्वारा प्रतिपादित विचारों व निष्कर्षों के प्रति आस्थावान् नहीं है। कई बार ऐसा देखने में आया है कि शोध-प्रबन्ध के परीक्षकों में से कोई अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण ऐसा सुझाव प्रस्तुत कर देता है, जो शोध की प्रकृति या निष्कर्षों के अनुकूल नहीं होता। स्वीकार्य न होते हुए भी शोध-प्रबन्ध की अस्वीकृति के भय से शोधार्थी उसे स्वीकार कर लेता है यही मतानुज्ञा है। ऐसी स्थिति शोधार्थी और निर्देशक के मध्य भी उपस्थित हो जाती है। मतानुज्ञा की स्थिति उत्पन्न होने पर शोधार्थी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि तथ्यों और निष्कर्षों की एक पुन: परीक्षा कर ले। यदि दोनों के सम्बन्ध तर्क संगत हैं और तथ्य प्रामाणिक हैं तो अपने विचारों से हटने का कोई कारण ही नहीं उत्पन्न होगा। ऐसा ही परीक्षण सुझावों का भी कर लेना चाहिए, मतानुज्ञा दोष तभी उत्पन्न होगा, जब बिना परीक्षण के ही किसी सुझाव को स्वीकार कर लिया जाए। अपने विचारों की दुर्बलता वही सिद्ध होगी परीक्षित प्रामाणिक एवं तर्क सगत विचारों की स्वीकृति मतानुज्ञा नहीं है। वाद में यह पराजय का कारण भले ही हो, शोध में नहीं है। अपने प्रामाणिक विचारों की तुलना में अप्रामाणिक विचारों की ओर फिसल जाना अथवा दो सिद्धान्तों में से हीनतर सिद्धान्त स्वीकार कर लेना भी अपसिद्धान्त दोष उत्पन्न करता है।

इन बाईस निग्रह स्थानों के ठीक ठीक ज्ञान और उनके प्रति सतर्कता से उन अनेक दोषों के निराकरण की क्षमता उत्पन्न होती है, जिनके कारण शोध-प्रबन्ध हीन-स्तरीय या अप्रामाणिक बन सकता है। न्याय-शास्त्र का यह कार्य ठीक वैसा ही है, जैसे कोई जानकार किसी अनजाने पथिक को राह के झाड-झखाडों एवं काँटों आदि से परिचित करा देता है। दायित्व तो पथिक का है कि वह उनसे बच कर चले।

निष्कर्ष और निःश्रेयस

शोध का लक्ष्य विषयगत चरम निष्कर्ष को अधिगम करना है और न्याय-शास्त्र का लक्ष्य निःश्रेयस् का अधिगम। यह अन्तर 'प्रमेय' सम्बन्धी है। न्याय ने भी अन्य शास्त्रों की भाँति प्रमेय केवल आध्यात्मिक ज्ञान को ही माना है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, पदार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग न्याय के प्रमेय हैं। दार्शनिक-शोध में तो इन प्रमेयों को शोध-विषय बनाया जा सकता है, साहित्यिक-शोध में नहीं। अतः साहित्यिक-शोध के लिए न्याय-शास्त्र की भूमिका लक्ष्य-साम्य की दृष्टि से नहीं, विवेचन-प्रक्रिया के साम्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। न्याय शास्त्र की दृष्टि में निःश्रेयस् को अधिगम करने के लिए—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल जाति और निग्रह स्थानों का तात्त्विक ज्ञान[१०] अत्यन्त आवश्यक है। इनके विस्तृत-विवेचन में इनसे सम्बन्धित तथ्यों को भी ले लिया है। इनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों उपभेदों का भी विवेचन

---

१०. न्याय सूत्र १।१।१

है। उदाहरण के लिए प्रमाण के विवेचन में आप्त का तथा अनुमान प्रमाण के
वों का विवेचन देखा जा सकता है। हेत्वाभास का ज्ञान हेतु के ज्ञान-बिना सम्भव
है; अत दोनों का सांगोपांग विवेचन हुआ है। इन १६ तत्त्वों में से प्रमेय को
कर शेष सबका सम्बन्ध तत्त्व-बोध की प्रक्रिया से है। ये सभी साधन है। न्याय-
तत्त्वज्ञानेच्छुक को इतना साधन-सम्पन्न बना देना चाहता है कि वह निर्णय तक
सके।

इन १५ तत्त्वों में निर्णय के परिगणन से पूर्व के तत्त्व—प्रमाण, (प्रमेय), संशय,
जन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव और तर्क—का ज्ञान निर्णय तक पहुचने के संबल के
में दिखाई पडते हैं। निर्णय, निष्कर्ष या मंजिल है। वाद, निष्कर्ष या निर्णय के
क्षण का स्थल है। शेष सभी सतर्कताए है। जल्प, वितण्डा हेत्वाभास छल, जाति
निग्रह स्थानो के ज्ञान के बिना इन बाधाओं से नही बचा जा सकता। ये बाधक
निर्णय तक या तो पहुचने ही नही देंगे, या निर्णय को ही अयथार्थ बना देंगे।

शोधार्थी का लक्ष्य भी विषयगत निर्णय तक पहुचना है, अत उसे एक ओर तो
णादि ज्ञान के साधन से सम्पन्न बनना होगा और दूसरी ओर जल्प आदि बाधक
ों की पहचान कर उनके प्रति सतर्कता रखनी पडेगी। ऐसा न करने पर उसके
र्ष भी अयथार्थ बन सकते है। अयथार्थ निष्कर्ष न तो शोध का लक्ष्य है न शोध-
ध की सफलता। उसे विषयगत सत्य के प्रतिष्ठापक रूप में 'वेदत्व' की स्थिति भी
त नही होगी। परीक्षण की कसौटी पर उसकी निष्कर्ष रूप देन खरी नही उतर
गी, अत उसके निष्कर्षों को सिद्धान्त रूप में सर्वमान्यता भी नही मिलेगी।

आज का शोधार्थी 'प्रामाणिकता' का नारा तो खूब लगाता है पर प्रमाण और
माणिकता के विषय में उसका ज्ञान 'पल्लवग्राही' से अधिक नहीं होता। वह तर्क
शीलता या वैज्ञानिकता का आवरण भी अपने ऊपर डाल लेता है परन्तु उसे कारण-कार्य
तथ्य-निष्कर्ष की सगति का बोध नही होता। तथ्यों का संयोजन या चयन मात्र कर
को ही वह शोध समझ लेता है। निश्चय ही न्याय-शास्त्र के किसी प्रकरण-ग्रन्थ
अध्ययन शोधार्थी में वह प्रौढ़ता उत्पन्न कर सकता है जिससे वह तार्किक ढंग को
कर सके तथा उन त्रुटियों से भी बच सके, जो अनेक शोध प्रबन्धों में दिखाई पड़ती
शोध-प्रक्रिया का ज्ञान कराने में न्याय-शास्त्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका विवाद का
य नही है।

हिन्दी की कारकीय विभक्तियां

डा० देवीशंकर द्विवेदी

संस्कृत मे सुप्-विभक्तिया कारकीय विभक्तियां नही थी। किसी संज्ञार्थक शब्द के कारक का निर्धारण उस शब्द का संबध-प्रकार क्रिया के साथ निश्चित करके होता था। इसीलिए संबंध और संबोधन की गणना कारकों मे करना विवादास्पद था; किन्तु इन अर्थों को व्यक्त करने वाली विभक्तियां कारकीय विभक्तियो के साथ ही परिगणित होती थी। रूपात्मक अध्ययन मे परंपरागत व्यवहार की यह प्रमुखता युक्तियुक्त है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि संबंध के द्योतन की विभक्ति 'षष्ठी' नाम से प्रथमा और सप्तमी के बीच विद्यमान है, लेकिन संबोधन के द्योतन की विभक्ति को 'अष्टमी' न कह कर 'संबोधन' ही कहते हैं।

हिन्दी व्याकरण मे 'कारक' शब्द का प्रयोग रूपात्मक विभक्तियों के आधार पर किया जा रहा है; भावात्मक दृष्टि से वहा भी मिश्रण है। इन्हे कारकीय विभक्तिया कहने के लिए 'कारक' की नई परिभाषा अपेक्षित है। अन्य समीपी शब्दो से अन्विति या अनुकूलता प्राप्त करने के लिए संज्ञार्थक शब्दो मे जोडी जाने वाली व्याकरणिक विभक्तियो को 'कारकीय विभक्तिया' कह सकते हैं। ध्यान रहे कि वचन और लिंग केवल व्याकरणिक कोटियां या व्याकरणिक विभक्तिया नही हैं; उनका अपना अर्थगत मूल्य भी है। उक्त अर्थ मे प्रयुक्त 'कारक' हिन्दी में तीन माने जाते है :—सरल (अविकारी), तिर्यक् (विकारी) और संबोधन। उदाहरणार्थ,

	एकवचन	बहुवचन
सरल	लड़का	लड़के
तिर्यक्	लडके	लडकों
संबोधन	लड़के	लड़को

सरलीकरण की यह प्रक्रिया यही रुकी नही है। स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू की भाषा मे संबोधन के पृथक् रूप नही थे। यही विशिष्टता हिन्दी के जनप्रिय कवि बलबीर सिंह 'रंग' की भाषा में है जो अपनी एक प्रसिद्ध कविता की पंक्ति "विप्लव के थके साथियों!" के रूप मे पढ़ते हैं। नेहरू जी संबोधन में "भाइयों

काव्य की आत्मा ध्वनि : स्वरूप एवं संभावना

डा० श्रीनिवास शास्त्री

कविता में एक सहृदय-संवेदनीय रमणीयता होती है, इस तथ्य को काव्यमर्मज्ञों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही परख लिया था। किसी ने उसे रस नाम से अभिहित किया, किसी ने अलङ्कार नाम से तथा किसी ने रीति नाम से। आचार्य वामन ने 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः।'[1] इत्यादि कहते हुए उस रमणीयता का 'सौन्दर्य' शब्द से ही अभिधान किया। किन्तु ये आचार्य शब्द तथा अर्थ के साहित्य, अलङ्कार या रीति में ही उस सौन्दर्य को खोजते रहे, उसकी प्रतीयमानता को न पहचान सके। आगे चलकर उस सौन्दर्य की प्रतीयमानता का अनुसन्धान किया गया तथा प्रतीयमान काव्य-सौन्दर्य (=ध्वनि) को ही काव्य की आत्मा माना जाने लगा। ध्वनि की उद्भावना के साथ साथ ही वह विवाद का विषय बन गई। उसके अनेकानेक विरोधी हो गये। उन विरोधों का निराकरण करके ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की आत्मा निर्धारित किया। उसे सकल काव्यों की उपनिषद् भूत अतिरमणीय तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया[2]। इस प्रकार काव्य के उद्भव काल से ही उसके सहृदय रमणीय तत्त्व को काव्यमर्मज्ञों ने परखा है। हाँ, उसका ध्वनि के रूप में विवेचन बाद में किया गया है।

प्रथमत. ध्वनि का विवेचन किस आचार्य ने किया यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आज तो हमारे समक्ष ध्वन्यालोक ही प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें ध्वनि का व्यवस्थित रूप से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से विदित होता है कि इससे पूर्व ही ध्वनि की उद्भावना हो चुकी थी। ध्वन्यालोक में बतलाया गया है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है, यह काव्यतत्त्ववेत्ता विद्वान् पहले ही व्याख्या कर चुके हैं[3]। यह ध्वनि सिद्धान्त विद्वानों के द्वारा प्रारम्भ किया गया है, यों ही

---

१. काव्यालङ्कारसूत्र १-१-१—२
२. ध्वन्यालोक लोचनसहित (तारावती व्याख्या, १९६३), पृ० ६१
३. वही, पृ० ११

मनमाने रूप मे प्रचलित नहीं हो गया है[4]। वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए काव्य-मर्मज्ञो ने ध्वनि की उद्भावना की है। वैयाकरणो ने स्फोट के अभिव्यञ्जक अकार आदि वर्णों को ध्वनि नाम से कहा था। उसी प्रकार काव्यमर्मज्ञों ने भी ऐसे शब्दार्थयुगल को ध्वनि कहना उचित समझा जिसके द्वारा प्रधान रूप से चमत्कारक व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है[5]। किस मनीषी ने ऐसी उद्भावना की थी? सभवतः यह स्वयं ध्वनिकार भी नही जानते। इसीलिये उन्होंने 'बुधैः' अथवा 'सूरिभिः' शब्दो के द्वारा ही उन मनीषियो का उल्लेख किया है। कौन जाने ध्वनि के उद्भावको की रचनाएं काल की कराल दृष्टि से भस्मसात् हो गई अथवा कही अनजाने मे पडी हैं।

इस तर्क-प्रधान युग मे यह भी कहा जा सकता है कि ध्वनिकार ने अपने सिद्धान्त को आदरणीय बनाने के लिये ही उसे विद्वानो द्वारा उद्भावित बतलाया है, वस्तुत ध्वनिकार से पूर्व यह कल्पना किसी ने नही की थी। भारतीय विद्वानो की यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि वे प्रत्येक नवीन विचार का मूल स्रोत वेद को बतलाते है, विविध विद्याओ का आदि प्रवक्ता ब्रह्मा को मानते हैं, अथवा ऋषि मुनि तथा विद्वानो के नाम पर किसी ज्ञान, विज्ञान की चर्चा करते हैं। आख्यानो से यह भी विदित होता है कि ईश्वर ने किसी न किसी रूप मे प्रकट होकर अमुक शास्त्र का उपदेश किया था, अनेक शास्त्रो के विषय मे ऐसी धारणा है। इस प्रकार यह मानने की सहज प्रवृत्ति होती है कि ध्वनिकार ही इस ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक हैं। ध्वन्यालोक तथा लोचन के अनुशीलन से भी यही विदित होता है कि 'काव्य की आत्मा ध्वनि है', यह पहिले किसी ने भी नही कहा था[6]। किञ्च, ध्वनिकार ने जो ध्वनि-विरोधियो के मत का निराकरण किया है वह भी उस प्रकार के विरोध की सभावना मात्र से ही किया गया है, अभाववादी इत्यादि के मत उन्होने कही पढे या सुने नही थे[7]।

इस प्रकार की शङ्काओ का विशेष प्रमाणो के अभाव मे उचित समाधान नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि काव्य मे कोई ऐसा तत्त्व होता है जो सहृदयो को आह्लादित करता है, वही कविता का सौन्दर्य है उसकी रमणीयता है। किसी भी सहृदय को उसकी सत्ता मे विवाद नहीं हो सकता। हाँ वह काव्यगत रमणीयता कैसे सप्रेषणीय होती है? यह विवाद का विषय है। ध्वनिकार ने ही सर्वप्रथम दृढ प्रमाणो के आधार पर यह स्थापना की है कि वह काव्यगत रमणीयता प्रतीयमान होती है, ध्वनि या व्यञ्जना द्वारा सवेद्य होती है। अतः ध्वनि-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक ध्वनिकार है, यह निश्चित ही है।

---

४. सिद्धपदार्थमुक्तिर्न व्यवहारदर्शनात् प्रयुक्तेति। वही, पृ० २६६
५. वही, पृ० २६६
६. ध्वनिरित्यमुना भावना कोविनिर्मितको न केनचिदुक्त। लोचन, पृ० ३१
७. न चास्माभिरभाववादिना विकल्पा श्रुता किन्तु सम्भाव्य दूषितानि। वही, पृ० ३१

अब विचारणीय यह है कि जिसे काव्य की आत्मा कहा गया है, वह क्या है। ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या विविध प्रकार से की गई है। ये व्याख्याएं ध्वनि के एक या अधिक पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं किन्तु उसके सर्वां रूप का निरूपण नहीं करती। ध्वनि के वरिष्ठ व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने शब्द के पांच अर्थ किये हैं[8] :—(१) व्यञ्जक शब्द; क्योंकि वह अर्थ को ध्वनित करता है (ध्वनतीति कृत्वा), (२) व्यञ्जक अर्थ; वह भी अन्य अर्थ को ध्वनित करता है (ध्वननीति कृत्वा)। ध्वनिवादियों का मत है कि शब्द के समान अर्थ किसी अन्य अर्थ के व्यञ्जक हुआ करते हैं, केवल वाच्य अर्थ ही व्यञ्जक नहीं होते अपितु लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ भी अन्य अर्थ के व्यञ्जक होते हैं[9]। (३) व्यङ्ग्य अर्थ, क्योंकि वह ध्वनित होता है (ध्वन्यत इति कृत्वा), इस व्युत्पत्ति के आधार पर सभी व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि पद के अधिकारी हैं। किन्तु विशेषकर विभाव आदि की योजना से ध्वनित होने वाला जो रस नामक व्यङ्ग्य अर्थ है उसे ही ध्वनि के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जाता है। कारण यह है कि काव्य में आ वादनीय जो तत्व हैं उनमें रस ही प्रधान है और यह रस सदा व्यङ्ग्य ही हुआ करता है, कभी भी वाच्य या लक्ष्य नहीं होता[10]। (४) 'ध्वनि' का चतुर्थ अर्थ है व्यञ्जना; वह व्यापार जिसके द्वारा किसी शब्द या अर्थ से विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है (ध्वननं ध्वनिः)। अभिनवगुप्त का कथन है कि यह व्यापार ही शब्द की आत्मा (आत्मभूतः) होता है, अन्य जो अभिधा आदि हैं वे शब्द की आत्मा नहीं कहे जा सकते[11]। (५) ध्वनि शब्द का पञ्चम अर्थ है वह काव्य जिसमें व्यञ्जक शब्द तथा अर्थ होते हैं, रस आदि रूप व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होती है तथा व्यञ्जना व्यापार ही प्रमुख होता है। ध्वन्यालोक के अनुशीलन से विदित होता है कि यही ध्वनि शब्द का मुख्य अर्थ है। ध्वनिकार बतलाते हैं कि जहाँ शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ अपने रूप को गौण बनाकर प्रधान रूप से आस्वादनीय व्यङ्ग्य अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्य विशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है[12]। मम्मट आदि आचार्यों ने भी ध्वनि का यही स्वरूप बतलाया है[13]।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि व्यञ्जक शब्द तथा अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा इनसे विशिष्ट काव्य जिसमें व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान रूप से चमत्कारक होता है—ये सभी ध्वनि कहलाते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि यदि ध्वनिकार को ध्वनि का यही अर्थ अभीष्ट है तो 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' यह कथन कैसे सगत हो सकता है। व्यञ्जक शब्द या अर्थ को तो काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता, वे तो काव्य के

---

८. वही, पृ० २७६
९. सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते। काव्यप्रकाश (साहित्य भण्डार, मेरठ स० २०१३) २-७ पृ० ३५
१०. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्य.। काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २१४
११. लोचन, पृ० २७६
१२. ध्वन्यालोक १ १३
१३. काव्यप्रकाश, १-४ पृ० २२

शरीर माने जाते हैं[14]। व्यञ्जना व्यापार को भी काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता और न व्यङ्ग्य अर्थ को ही। ये चारों तत्त्व तो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी होते हैं। किन्तु ये किसी साधारण व्यावहारिक वाक्य में भी हो सकते हैं। मान लीजिये किसी ने कहा 'यह चेयर का आर्डर है' या 'कुर्सी का आदेश है'। यहाँ कुर्सी शब्द से जो कुर्सी पर विराजमान व्यक्ति का बोध हो रहा है वह लक्षणागम्य है, लक्ष्य अर्थ है। इस लक्ष्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि इस आदेश का पालन अपरिहार्य है। यही अर्थ यहाँ प्रधान भी है, जो व्यञ्जना व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार इस वाक्य में 'ध्वनि' शब्द का पञ्चम अर्थ भी यत्किञ्चित् अंश में विद्यमान है, फिर भी इस वाक्य को काव्य के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ध्वनि वहाँ होती है जहाँ व्यङ्ग्य अर्थ विभाव-अनुभाव आदि के संयोग (संवलन) से अभिव्यक्त हुआ करता है[15], इस प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ रस आदि के रूप में ही होता है, उपर्युक्त वाक्य में रस आदि की अभिव्यञ्जना का अभाव है अतः इसे काव्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु ऐसा मानने में कठिनाई यह है कि यदि जहाँ रस आदि रूप अर्थ व्यङ्ग्य हो उसे ही काव्य माना जाये तो वस्तु ध्वनि तथा अलङ्कार ध्वनि के स्थलों पर काव्यत्व न माना जा सकेगा। यह ठीक है कि भारतीय साहित्य शास्त्र में विश्वनाथ जैसे आचार्य केवल रस आदि ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं[16] फिर भी उनका 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' जैसा काव्य-लक्षण काव्य के सभी प्रकारों में घटित नहीं हो सकता। फलतः आनन्दवर्धन तथा उनके जैसे उदार दृष्टि वाले आचार्यों ने ध्वनि के तीन भेद किए हैं वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि तथा रसध्वनि। उनके अनुसार यह तीनों प्रकार की ध्वनि ही काव्य की आत्मा कही जा सकती है। किन्तु जैसा अभी आगे दिखलाया जा रहा है वस्तु आदि ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तथ्य के उद्घाटन का एक मार्ग अवश्य है, पर काव्य की आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार ध्वनि का जो पञ्चम अर्थ है उसके रूप में भी ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं कहा जा सकता। अब उपर्युक्त प्रकार काव्य ही ध्वनि है तो वाक्य से भिन्न ध्वनि क्या है जिसे काव्य की आत्मा कहा जा सके? इस प्रकार ध्वनि के उपर्युक्त अर्थ केवल ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के साधन मात्र हैं। काव्य की आत्मा कोई और ही तत्त्व है। ध्वनिकार ने इस तत्त्व की ओर सहृदयों का ध्यान आकृष्ट किया है और विविध प्रकार से विश्लेषण करके इस तत्त्व का हृदयङ्गम कराने का प्रयास किया है।

ध्वनिकार बतलाते हैं कि काव्य का जो सहृदयश्लाघ्य अर्थ है, वही काव्य की आत्मा के रूप में निर्धारित किया गया है[17]। इस प्रकार काव्य का [illegible] सहृदय [illegible]

१४. शब्दार्थशरीरं तावत्काव्यम्, ध्वन्यालोक १.१
१५. [illegible] विभावानुभाव[illegible] [illegible] । [illegible], पृ० [illegible]
१६. साहित्यदर्पण (चौखम्बा संस्करण, १९५१), पृ० १६ [illegible]
१७. देखें, सहृदयश्लाघ्य [illegible] । ध्वन्यालोक १.१

तत्त्व है, जो रमणीयता है वही काव्य की आत्मा है। संभवतः इसीलिये सभी लक्षणो की उपेक्षा करके पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' ऐसा काव्य का लक्षण किया है[१८]। किन्तु प्रश्न यह है कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' कहते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाया है, अथ च प्रस्तुत सन्दर्भ मे सहृदयश्लाघ्य अर्थ को काव्य की आत्मा कहा है, इन दोनो कथनों की संगति कैसे लगेगी। इसका उत्तर ध्वन्यालोक मे ही विद्यमान है। ध्वनिकार के अनुसार काव्य का आत्मभूत जो सहृदयश्लाघ्य अर्थ है उसके दो अंश होते हैं वाच्य तथा प्रतीयमान। ध्वनिकार से पूर्ववर्ती विद्वान् वाच्य अंश को ही काव्य की आत्मा समझ बैठे थे, ध्वनिकार ने हमे बतलाया कि वाच्य अंश तो प्रतीयमान अंश की प्रतीति का साधन है, सहृदयो के हृदय को तो प्रतीयमान अर्थ ही आह्लादित करता है[१९]। प्रतीयमान अर्थ सदा ही वाच्य अर्थ से विलक्षण होता है। वाचक शब्द तथा वाच्य अर्थ तो काव्य का शरीर माने जाते हैं किन्तु यह प्रतीयमान अर्थ प्रसिद्ध एवं अलङ्कृत शब्दार्थ-युगल से विलक्षण कोई तत्त्व है। इस तत्त्व को समझाने के लिये आनन्दवर्धन ने उपमा का आश्रय लिया है। वे कहते है "जिस प्रकार अङ्गनाओ मे मुख आदि अवयवो से भिन्न लावण्य एक पृथक् पदार्थ होता है उसी प्रकार महाकवियो की वाणी मे प्रतीयमान अर्थ कुछ और ही तत्त्व है[२०]।"

यहाँ ध्वनिवादियो की 'प्रतीयमान' विशेषण के प्रति विशेष आस्था है। आनन्दवर्धन कहते हैं—"सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेन[२१]"; अर्थात् सारभूत अर्थ अपने वाचक शब्द द्वारा अभिहित न होकर व्यङ्ग्य रूप मे प्रकाशित होता है तो वह अत्यधिक चारुता को प्राप्त हो जाता है। विदग्ध (काव्यमर्मज्ञ) विद्वानो की गोष्ठी मे यह प्रसिद्धि है कि अधिक रमणीय वस्तु व्यङ्ग्य रूप में ही अभिव्यक्त की जाती है, साक्षात् शब्द के वाच्य रूप मे नहीं। वस्तुतः 'प्रतीयमान' विशेषण द्वारा वस्तुस्थिति का ही स्पष्टीकरण किया गया है। शब्दों द्वारा साक्षाद् अभिहित अर्थ सहृदयो के लिये उतना आह्लादक नहीं होता जितना कि प्रतीयमान अर्थ होता है। नग्न गात्र मे सौन्दर्य का आवर्जण नहीं हुआ करता। घूर कर देखती आंखों मे वह मनोहरता कहाँ होती है जो लजाते नयनों मे हुआ करती है ?

ध्वनिकार ने यह भी प्रतिपादित किया है कि कवि तथा सहृदय दोनो की दृष्टि मे प्रतीयमान चारुता ही काव्य की आत्मा है। महाकवियो की वाणी उस

---

१८ रसगङ्गाधर (चौखम्बा० बनारस १९५५) १.१, पृ० ६

१९. वि०, मालव, पृ० ७१

२०. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ ध्वन्यालोक १.४।

२१ ध्वन्यालोक (वृत्ति), ४, ४

विलक्षण आस्वादनीय तत्त्व को प्रकट करती है, इससे उनकी लोकोत्तर प्रतिभा अभिव्यक्त हुआ करती है।[29] इस रमणीय अर्थ की अभिव्यञ्जना ही कविकर्म की लोकोत्तरता है, कविप्रतिभा की कसौटी है। कवि का संरम्भ इस रमणीय अर्थ की अभिव्यञ्जना करने में ही होता है। कवि जो वाचक, लक्षक या व्यञ्जक शब्दों की योजना करता है, उनसे जो अर्थ-बोध होता है उन सबका लक्ष्य लोकोत्तर चारुता की प्रतीति कराना ही है। शब्द, अर्थ, अलङ्कार, रीति तथा गुण सभी कविता के उस लावण्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं। कवि के समान सहृदय का लक्ष्य भी वही प्रतीयमान चारुता है। वह काव्य में उसी लोकोत्तर रमणीयता का आस्वादन करता है। सहृदयों को जो काव्य में शब्दार्थ का बोध होता है, जो वे अलङ्कार आदि का दर्शन करते हैं, यह सब तो काव्य के आत्मभूत उस तत्त्व की अनुभूति का द्वारमात्र है। अभिनवगुप्त ने स्पष्टतः यह बतलाया है कि काव्य का वह रमणीय अर्थ सहृदयों को भासित (प्रतीतिगम्य) हुआ करता है किसी अनुमान आदि के द्वारा नहीं जाना जाता।[30] इस प्रकार ध्वनिवादियों का यह निश्चित मत है कि काव्य का आत्मभूत जो लावण्य होता है वह प्रतीयमान होता है।

काव्य की यह प्रतीयमान चारुता ही काव्य के उत्कर्ष तथा अपकर्ष की कसौटी है। आनन्दवर्धन ने इसी आधार पर काव्य के ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य ये दो भेद किये हैं तथा इनसे भिन्न को काव्याभास (=चित्र) कह दिया है।[31] मम्मट ने ध्वनि को काव्य की आत्मा न कहते हुए भी प्रतीयमान चारुता के तारतम्य के आधार पर ही काव्य के तीन भेद (उत्तम, मध्यम तथा अधम) किये हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के काव्य-विभाजन का आधार भी यही है। हां, पण्डितराज ने इस चारुता में 'प्रतीयमान' विशेषण की आवश्यकता न समझी। केवल रमणीयता (=चारुता) को ही काव्यत्वाधायक धर्म मान लिया। जैसा कि अभी ऊपर दिखलाया गया है प्रतीयमान अर्थ ही सहृदयश्लाघ्य किंवा सहृदयरमणीय होता है। अतः स्पष्ट है कि काव्यगत रमणीयता में प्रतीयमानता भी अन्तर्निहित है। इसीलिये पण्डितराज ने प्रतीयमान चारुता के आधार पर ही काव्य के भेद किये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की प्रतीयमान रमणीयता=कविता-कामिनी का लावण्य ही ध्वनि है। उस की अनुभूति सहृदयों को हुआ करती है, वह सहृदयमात्रवेदनीय है। किन्तु प्रश्न यह है : यदि यह प्रतीयमान रमणीयता केवल सहृदयों की अनुभूति का विषय है, उसे शब्दों द्वारा नहीं अभिहित किया जा सकता तो ध्वनिवादियों की यह घोषणा कैसे संगत हो सकती है कि सहृदयों की मनःप्रीति के

---

२९. ध्वन्यालोक, १.६

३०. प्रतिपत्तॄन् प्रति सा प्रतिभा नानुमीयमाना अपि तु [illegible] [illegible]। अ० भा०, पृ० १७१

३१. ध्वन्यालोक, ३.४२

लिये उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं ।[25] इसके उत्तर में यही कहना पर्याप्त है कि शब्द के द्वारा वस्तुसत्ता के किन्ही पहलुओं का ही विवरण दिया जा सकता है । किसी वस्तु के परमार्थगत् स्वरूप की अभिव्यक्ति करना शब्द के सामर्थ्य से परे है। उपनिषद् के ऋषि अपने व्यवहार से इसी तथ्य को प्रकट कर रहे हैं। वहां विविध रूपो मे पराशक्ति का वर्णन करते हुए भी अन्ततः उस शक्ति को अनिर्वचनीय कह कर ही छोड दिया है। अथवा 'नेति-नेति' द्वारा ही उस परमतत्त्व का अभिधान किया है। किसी प्रकार का विश्लेपण या विभागीकरण भी वस्तु के स्वरूप की अभिव्यक्ति नही कर सकता। क्या ललना का लावण्य शल्यक्रिया के प्रयोगों से दिखलाया जा सकता है ? या किसी पाटला के पुष्प की मनोरमता को वनस्पति शास्त्र की प्रयोगशाला मे परखा जा सकता है ? अतः काव्य का जो लावण्य है उसे भी परिभाषा, विश्लेषण या विभागीकरण द्वारा सर्वाङ्गीण रूप मे नही समझाया जा सकता। ध्वनिवादियों ने जो उसे वस्तुरूप, अलङ्काररूप या रसादिरूप कहा है, वह तो उस विलक्षण तत्त्व को समझाने का उपायमात्र है, वस्तुध्वनि आदि शब्दों के द्वारा उस सहृदयमात्र-संवेदनीय तत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः जहां वस्तु, अलङ्कार या रस ध्वनित होते हैं वहा सर्वत्र ही वस्तुध्वनि आदि काव्य-भेद नहीं हुआ करते। तथ्य तो यह है कि वस्तुध्वनि आदि काव्य-भेद के लिये प्रथमतः काव्यत्व होना अनिवार्य है। काव्यत्व का अर्थ है लोकोत्तर वर्णना मे निपुण कवि की कृति,[26] अथवा सहृदयो के मानस को उल्लसित करने वाला शब्दार्थयुगल का गुम्फन।[27] फलतः जहा काव्यत्व होने पर वस्तु आदि ध्वनित होते हैं और वे ही सहृदयो के हृदय को प्रधानतया आह्लादित करते हैं वहाँ वस्तुध्वनि आदि काव्य-भेद हुआ करता है। इस प्रकार काव्य में जो प्रतीयमान सहृदयाह्लादकता है वही ध्वनि है, वहीं काव्य की आत्मा कही गई है। इसीलिये ध्वनिकार कहते हैं "वह काव्यविशेष विद्वानो द्वारा ध्वनि नाम से अभिहित किया गया है।[28] अभिनवगुप्त की उक्ति से उपर्युक्त तथ्य और अधिक स्पष्ट हो रहा है यच्चोक्त 'चारुत्वप्रतीतिस्तर्हि काव्यात्मा स्यादिति' तदङ्गीकुर्म एव[29]। अर्थात् जो (प्रतिपक्षी ने) यह कहा है कि इस प्रकार चारुत्व-प्रतीति ही काव्य की आत्मा हो जायेगी, उसे हम स्वीकार करते ही हैं।

कविता का यह प्रतीयमान लावण्य तभी से सहृदयो के हृदय को आह्लादित करता रहा है जब से कविता का उद्भव हुआ है। भारत मे लौकिक साहित्य का आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण माना जाता है अतः ध्वनिकार ने रामायण, महाभारत मे उस ध्वनितत्त्व का उल्लेख किया है[30]। यदि रामायण मे पूर्ववर्ती वाङ्मय के किन्ही

---

२५. तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्, ध्वन्यालोक १.१
२६. काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म, काव्यप्रकाश, १.२ पृ० ८
२७. सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्, ध्वन्यालोक १.१
२८. 'काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः', वही १.१३
२९. लोचन, पृ० ११०
३०. ध्वन्यालोक (वृत्ति) १.१ पृ० ६१

लिये उस ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं।[२५] इसके उत्तर में यही क
है कि शब्द के द्वारा वस्तुसत्ता के किन्ही पहलुओं का ही विवरण दिया
है। किसी वस्तु के परमार्थगत् स्वरूप की अभिव्यक्ति करना शब्द के सामर्थ्य
उपनिषद् के ऋषि अपने व्यवहार से इसी तथ्य को प्रकट कर रहे हैं।
रूपों में पराशक्ति का वर्णन करते हुए भी अन्ततः उस शक्ति को अनिर्व
कर ही छोड़ दिया है। अथवा 'नेति-नेति' द्वारा ही उस परमतत्व का अभि
है। किसी प्रकार का विश्लेषण या विभागीकरण भी वस्तु के स्वरूप
नहीं कर सकता। क्या ललना का लावण्य शल्यक्रिया के प्रयोगों से दि
सकता है ? या किसी पाटला के पुष्प की मनोरमता को वनस्पति शास्त्र
में परखा जा सकता है ? अतः काव्य का जो लावण्य है उसे भी परि
या विभागीकरण द्वारा सर्वाङ्गीण रूप मे नही समझाया जा सकता
ने जो उसे वस्तुरूप, अलङ्काररूप या रसादिरूप कहा है, वह
तत्त्व को समझाने का उपायमात्र है, वस्तुध्वनि आदि शब्दों के द्वा
संवेदनीय तत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।
अलङ्कार या रस ध्वनित होते हैं वहा सर्वत्र ही वस्तुध्वनि आदि
करते। तथ्य तो यह है कि वस्तुध्वनि आदि काव्य-भेद के लिये
अनिवार्य है। काव्यत्व का अर्थ है लोकोत्तर वर्णना मे निपुण क
सहृदयों के मानस को उल्लसित करने वाला शब्दार्थयुगल
काव्यत्व होने पर वस्तु आदि ध्वनित होते हैं और वे
प्रधानतया आह्लादित करते हैं वहाँ वस्तुध्वनि आदि
प्रकार काव्य मे जो प्रतीयमान सहृदयाह्लादकता है वही
आत्मा कही गई है। इसीलिये ध्वनिकार कहते हैं "वह
ध्वनि नाम से अभिहित किया गया है।[२६] अभिनवगुप्त की
और अधिक स्पष्ट हो रहा है यच्चोक्तं 'चारुत्वप्रतीति
तदभ्युपगम एव'[२७]। अर्थात् जो (प्रतिपक्षी ने) यह कहा है कि
ही काव्य की आत्मा हो जायेगी, उसे हम स्वीकार करते हैं

कविता का यह प्रतीयमान लावण्य तभी से सहृदयों
करता रहा है जब से कविता का उद्भव हुआ है।
आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण
मे उस ध्वनितत्त्व का उल्लेख

२५. तेन ब्रूमः
२६. काव्य सोऽ
२७. सहृद
२८. कार्या

करते हैं। जिस प्रकार भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के विविध पक्षों का विवेचन किया है, उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्यालोचकों ने भी कतिपय वादों या सिद्धान्तों को आलोचना के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। उन सभी वादों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है रूपवादी (कलावादी), वस्तुवादी (उपयोगितावादी) और भाववादी। कलावादी पक्ष में बिम्बवाद, प्रतीकवाद तथा अभिव्यञ्जनावाद महत्त्वपूर्ण है। वस्तुवादी पक्ष में यथार्थवाद आदर्शवाद आदि मुख्य है और भाववादी पक्ष के अन्तर्गत काव्य सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक मत रखे जा सकते हैं[१८]।

बिम्बवादी के अनुसार "बिम्ब-रचना काव्य का मुख्य व्यापार है।" बिम्ब किसी अप्रस्तुत वस्तु का मानसिक या काल्पनिक रूप है। काव्य सदैव अप्रस्तुत वस्तुओं का कल्पनागत वर्णन प्रस्तुत करता है अतः काव्य के अन्तर्गत रूपसृष्टि इसी बिम्बयोजना को किया है। हम कह सकते है कि वस्तु, भाव या विचार को कल्पना एवं मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनाने वाला व्यापार ही बिम्ब-विधान है।"[१९] इस बिम्ब-विधान के द्वारा काव्यार्थ स्पष्ट होता है। यह भाव-सम्प्रेषण में सहायक होता है, वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष सा करा देता है। सौन्दर्य को हृदयगम कराने में इसका अत्यधिक उपयोग है। केवल दृश्य वस्तुओं की बिम्बयोजना ही कवि नहीं करता अपितु सूक्ष्म भावों की बिम्ब-योजना भी करता है, प्रेम और विरह जैसे सूक्ष्म भावों के बिम्ब भी कविता में प्रस्तुत करता है। बिम्ब-विधान के इस विश्लेषण से यह विदित होता है कि यह सहृदयों के हृदय में सौन्दर्य की अनुभूति कराने का महत्त्वपूर्ण उपकरण है, सम्प्रेषण का वाञ्छनीय साधन है। किन्तु काव्य का प्रतीयमान लावण्य तो इसे नहीं कहा जा सकता। उस लावण्य की प्रतीति का साधन या अङ्गमात्र ही इसे माना जा सकता है।

प्रतीक-विधान को भी लीजिये। प्रतीक का अर्थ है किसी वस्तु भाव या विचार आदि को प्रकट करने वाला संकेत। काव्य में विभिन्न वस्तुओं, घटनाओं या संवेदनाओं के लिये कुछ प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। प्रतीक-विधान के द्वारा स्थूल एवं सूक्ष्म सभी भावों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में भी प्रतीक-विधान किया गया है। यहां प्रबोधचन्द्रोदय जैसे प्रतीकात्मक नाटक भी लिखे गये है। हिन्दी की रहस्यवादी कविता का तो प्रतीक-योजना आधार ही है। हिन्दी के नवीन युग की कविता में विविध प्रकार की प्रतीक-योजना दृष्टिगोचर होती है। यहां कुछ प्राकृतिक प्रतीक हैं जैसे विपन्न परिस्थितियों के लिये 'पतझड़', जीवन या परिवार के लिये फुलवारी आदि। कुछ ऐतिहासिक प्रतीक है जैसे उच्चवर्गीय शासक का 'हर्षवर्धन' कवि का बाणभट्ट आदि। इसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक, पौराणिक, शास्त्रीय तथा

---

१८ डा०, भगीरथ मिश्र, काव्यशास्त्र, पृ० २८१

१९ वही, पृ० २८२, विशेष द्रष्टव्य James R. Kreuzer : Elements of Poetry तथा Louis Macneice : Modern Poetry.

वक्रोक्ति नामक कवि-व्यापार कवि-प्रतिभा की अपेक्षा रखता है और इस वक्रोक्ति के द्वारा ध्वनिकारोक्त प्रतिभा-विशेष की अभिव्यक्ति हुआ करती है फिर भी यह कवि व्यापार तो कविता की आत्मा नहीं हो सकता। अतः वक्रोक्ति केवल सहृदय-हृदयाह्लाद का साधनभूत व्यापार ही है। किञ्च, कुन्तक ने वक्रोक्ति द्वारा ध्वनि की गतार्थता दिखलाने का भी प्रयास किया है। रुय्यक भी कहते हैं—'उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः।' अर्थात् कुन्तक ने उपचार-वक्रता आदि के द्वारा समस्त ध्वनि-प्रपञ्च को स्वीकार कर ही लिया है।[34] यदि यह मान लिया जाये कि वक्रोक्ति में ध्वनि का समावेश हो जाता है तब वक्रोक्ति केवल वैदग्ध्यभङ्गीभणिति नहीं रहेगी, इसका अर्थ होगा कविता का प्रतीयमान लावण्य तथा उस लावण्य को प्रकट करने वाली वैदग्ध्यभङ्गीभणिति। इस प्रकार ध्वनि के साथ वक्रोक्ति का कोई विशेष विवाद नहीं रहेगा, केवल शब्दों का अन्तर होगा। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट को तो इस सहृदय-मात्रवेदनीय लावण्य के विषय में कोई विवाद नहीं है। न ही वे इस लावण्य को शब्दों का अभिधेय मानते हैं। फिर भी अपनी न्याय सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ निष्ठा के कारण वे इस लावण्य को प्रतीयमान नहीं कह सकते। वे इस लावण्य को व्यञ्जना-गम्य नहीं मानते, अपितु अनुमेय (=अनुमान का विषय) मानते हैं[35]। अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि ध्वनिवादियों ने यह बहुशः प्रतिपादित किया है कि उस काव्यगत लावण्य की अनुमान से प्रतीति नहीं हो सकती[36]। इसी प्रकार धनञ्जय तथा धनिक आदि को भी सहृदयों को प्रतीत होने वाली इस काव्य की चारुता के विरोधी नहीं कहा जा सकता। उनका विचार है कि तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही इसका बोध हो जाता है। उन्होंने तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को कुछ अधिक विस्तृत मान लिया है। वही तात्पर्य वृत्ति, वाक्यार्थ का बोध कराने के अनन्तर, एक पग आगे बढ़कर उस सहृदयश्लाघ्य अर्थ की अवगति भी करा देती है[37]। किन्तु ऐसा मान लेने पर भी यह तत्त्व शब्दों का साक्षाद् वाच्य तो नहीं हो जाता। यह तो नाममात्र का अन्तर है; तात्पर्यवृत्ति का ही एक पग आगे व्यापार मान लीजिये अथवा उसे पृथक् नाम से व्यञ्जना वृत्ति कह लीजिये। इस प्रकार भारतीय साहित्यशास्त्र के इतिहास से विदित होता है कि काव्यतत्त्वदर्शियों ने जब से ध्वनि नाम के काव्य के विलक्षण तत्त्व का अनुसन्धान किया है तब से किसी न किसी रूप में इसे ही काव्य की आत्मा माना जाता रहा है, ध्वनिविरोधियों ने भी मार्ग-भेद से या शब्द-भेद से ध्वनि की सत्ता स्वीकार कर ली है।

साहित्य के आधुनिक मानदण्डों का अवलोकन किये बिना यह ध्वनिविषयक विवेचन अधूरा ही रहेगा, क्योंकि विद्वज्जन ध्वनि के साथ उनका सामञ्जस्य करने का प्रयास करते हैं अथवा उनमें से किसी को ध्वनि के स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा

---

३४ वही, पृ० ६

३५. व्यक्तिविवेक १·१ तथा आगे

३६. लोचन, पृ० ९३, काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २४१

३७ दशरूपक, अवलोक टीका (साहित्य भण्डार मेरठ), ४·३७, पृ० ३१८ तथा आगे।

करते हैं। जिस प्रकार भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के विविध पक्षों का विवेचन किया है, उसी प्रकार पाश्चात्य साहित्यालोचकों ने भी कतिपय वादों या सिद्धान्तों को आलोचना के मानदण्ड के रूप में स्वीकार किया है। उन सभी वादों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है रूपवादी (कलावादी), वस्तुवादी (उपयोगितावादी) और भाववादी। कलावादी पक्ष में बिम्बवाद, प्रतीकवाद तथा अभिव्यञ्जनावाद महत्त्वपूर्ण है। वस्तुवादी पक्ष में यथार्थवाद आदर्शवाद आदि मुख्य है और भाववादी पक्ष के अन्तर्गत काव्य सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक मत रखे जा सकते है[१८]।

बिम्बवादी के अनुसार "बिम्ब-रचना काव्य का मुख्य व्यापार है।" बिम्ब किसी अप्रस्तुत वस्तु का मानसिक या काल्पनिक रूप है। काव्य सदैव अप्रस्तुत वस्तुओं का कल्पनागत वर्णन प्रस्तुत करता है अतः काव्य के अन्तर्गत रूपसृष्टि इसी बिम्बयोजना को किया है। हम कह सकते हैं कि वस्तु, भाव या विचार को कल्पना तथा मानसिक क्रिया के माध्यम से इन्द्रियगम्य बनाने वाला व्यापार ही बिम्ब-विधान है।'[१९] इस बिम्ब-विधान के द्वारा काव्यार्थ स्पष्ट होता है। यह भाव-सम्प्रेषण में सहायक होता है, वस्तु या घटना को प्रत्यक्ष सा करा देता है। सौन्दर्य को हृदयंगम कराने में इसका अत्यधिक उपयोग है। केवल दृश्य वस्तुओं की बिम्बयोजना ही कवि नहीं करता अपितु सूक्ष्म भावों की बिम्ब-योजना भी करता है, प्रेम और विरह जैसे सूक्ष्म भावों के बिम्ब भी कविता में प्रस्तुत करता है। बिम्ब-विधान के इस विवेचन से यह विदित होता है कि यह सहृदयों के हृदय में सौन्दर्य की अनुभूति कराने का महत्त्वपूर्ण उपकरण है, सम्प्रेषण का वाञ्छनीय साधन है। किन्तु काव्य का प्रतीयमान लावण्य तो इसे नहीं कहा जा सकता। उस लावण्य की प्रतीति का साधन या अनुमात्र ही इसे माना जा सकता है।

प्रतीक-विधान को भी लीजिये। प्रतीक का अर्थ है किसी वस्तु भाव या विचार आदि को प्रकट करने वाला संकेत। काव्य में विभिन्न वस्तुओं, घटनाओं या संवेदनाओं के लिये कुछ प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है। प्रतीक विधान के द्वारा स्थूल एवं सूक्ष्म सभी भावों को अभिव्यक्त किया जा सकता है। संस्कृत साहित्य में भी प्रतीक विधान किया गया है। यहां प्रबोधचन्द्रोदय जैसे प्रतीकात्मक नाटक भी लिखे गये हैं। हिन्दी की रहस्यवादी कविता का तो प्रतीक-योजना आधार ही है। हिन्दी के नवीन युग की कविता में विविध प्रकार की प्रतीक-योजना दृष्टिगोचर होती है। यथा कुछ प्राकृतिक प्रतीक है जैसे विपन्न परिस्थितियों के लिये पतझड़ [illegible] या [illegible] के लिए फुलवारी आदि। कुछ ऐतिहासिक प्रतीक है जैसे उच्चवर्गीय [illegible] का [illegible] वर्ग का बाणभट्ट आदि। इसी प्रकार कुछ सांस्कृतिक, पौराणिक, [illegible] आदि

१८ वि०, प्रतीक विध. [illegible], पृ० २२१
१९ वही, पृ० २२२, [illegible] James R. Kreuzer Elements of Poetry तथा Louis Macneice : Modern Poetry.

वैज्ञानिक प्रतीकों की भी योजना की जाती है। इन प्रतीकों के द्वारा भाव तथा विचार का सम्प्रेषण सहज हो जाता है, किसी सामान्य कथन में भी विशिष्टता आ जाती है, सूक्ष्म अनुभूतियों को भी ग्राह्य बनाया जा सकता है। अतः इस प्रतीक-योजना के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।[40] फिर भी इसे ध्वनि के पद पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाये कि प्रतीक-विधान के स्थलों पर सर्वत्र ही किसी वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति हुआ करती है और वही वस्तुरूप अर्थ प्रधानतया चमत्कारक होता है तो भी प्रतीक विधान केवल लाक्षणिक-शब्द-प्रयोग की कोटि में आता है। एक प्रतीक किसी अर्थ का बोध कराने के पश्चात् विश्रान्त हो जाती है। उस प्रतीकार्थ से किसी विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति हुआ करती है। वही विशिष्ट अर्थ सहृदयों को आनन्द देने वाला होता है। उसे ही काव्य का सारतत्त्व कहा जा सकता है। इस प्रकार कविता के प्रतीयमान सौन्दर्य को व्यक्त करने का एक साधन प्रतीक-विधान भी हो सकता है पर वही तो योजना का लावण्य नहीं बन सकता। ऐसे स्थलों पर प्रतीक-योजना लक्षणा का ही एक रूप है तथा ऐसे ध्वनिकाव्य को अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूलक ध्वनि) के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसी लिये प्रतीक-योजना के विषय में आलोचकों का विचार है 'भारतीय दृष्टिकोण से यह साध्यवसाना लक्षणा का एक विकसित रूप है और इसका अपना शैलीगत महत्त्व है'।[41]

क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद का अनेक समीक्षकों ने विवेचन किया है अपने इन्दौर के भाषण में आचार्य शुक्ल जी ने कह दिया था कि अभिव्यञ्जनावाद भारतीय वक्रोक्तिवाद का ही विलायती उत्थान है।[42] इसके अनन्तर अभिव्यञ्जनावाद तथा वक्रोक्तिवाद का तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी काव्यशास्त्र का एक रोचक विषय बन गया है। डा० नगेन्द्र ने भी शुक्ल जी के इस कथन की विस्तार से समीक्षा की है। उनका निष्कर्ष यह है— 'क्रोचे के अभिव्यञ्जना-सिद्धान्त का वक्रता के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वह वास्तव में अभिव्यञ्जना का दर्शन है, काव्यशास्त्र है भी नहीं। परन्तु यूरोप में जल्दी ही उसके आधार पर अभिव्यञ्जनावाद नाम से एक कलासम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ' इत्यादि।[43] डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार 'काव्य-रचना किस प्रकार होती है उसका एक विश्लेषण अभिव्यञ्जनावाद है', 'अभिव्यञ्जनावाद काव्य और कला के स्वरूपविश्लेषण का एक व्यक्तिवादी सिद्धान्त है।[44] इन सभी परिभाषाओं से

४०. मि०, वही, पृ० २६५ तथा आगे, विशेष द्रष्टव्य William York Tindall: The Literary Symbol
४१. वही, पृ० ३०४
४२. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (१९५५), भूमिका, पृ० २२६
४३ वही, पृ० २४७
४४. डा० भगीरथ मिश्र, काव्यशास्त्र, पृ० ३०५ विशेष द्रष्टव्य Croce : Theory of Aesthetic.

यह स्पष्ट है कि यह अभिव्यञ्जनावाद कविता के प्रतीयमान लावण्य (=ध्वनि) का स्थानापन्न नहीं हो सकता। हाँ, उसके अङ्ग या साधन के रूप में इसका महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है।

वस्तुवादी तथा भाववादी पक्षों का अनुशीलन करने से विदित होता है कि उनका ध्वनि से कोई नाता जोड़ना कठिन ही है। इस प्रकार गत युग में जो कलावादी, वस्तुवादी तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से कविता के मूल्याङ्कन का प्रयास किया जाता रहा है उन सभी के द्वारा कविता के प्रतीयमान लावण्य की व्याख्या नहीं की जा सकी है।

इसके अतिरिक्त, ध्वनि-सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए विद्वानों ने इसका कल्पना-तत्त्व के साथ सम्बन्ध जोड़ा है। उनका कथन है—"दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना-शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुनकर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणति की अवस्था में पहुँचकर रस-संवेदन में विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यञ्जना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्त्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है[४५]।" इस सन्दर्भ में यही कहना है कि किसी प्रकार अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शब्द-शक्ति को व्यञ्जना कहा जा सकता है परन्तु इतना कहना ही पर्याप्त न होगा, क्योंकि इस उक्ति में 'अतिरिक्त कल्पना' का क्या अभिप्राय है? इसकी व्याख्या करनी होगी। यदि वाच्य, लक्ष्य तथा तात्पर्य अर्थ से अधिक कल्पना को अतिरिक्त कल्पना मान लें तो भी उस प्रकार की शक्ति अर्थ में भी माननी होगी। ध्वनिवादियों ने तो आर्थी व्यञ्जना भी स्वीकार की है। किञ्च, सहृदयों के मन में जो अतिरिक्त कल्पना जग जाती है वह कल्पना काव्य के आस्वादन में विशेष सहायक ही होती है वही तो काव्य की रमणीयता नहीं कहला सकती। अतः यह अतिरिक्त कल्पना काव्य से व्यक्त होने वाली रमणीयता का साधन-मात्र है। फलतः कल्पनातत्त्व के द्वारा किसी प्रकार व्यञ्जना तथा व्यङ्ग्य अर्थ की प्रक्रिया की व्याख्या कर भी दी जाये तो भी काव्य की आत्मा जो ध्वनि कही गई है—काव्य का जो प्रतीयमान लावण्य है, उसे कल्पनातत्त्व मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः कल्पना तो कवि या सहृदय की मानसिक क्रिया है उसे काव्य की आत्मा कैसे कहा जा सकता है?

कहना न होगा कि काव्य का आस्वादनीय तत्त्व ही काव्य की आत्मा है।

---

४५. डा० नगेन्द्र, ध्वनि और रस, उद्धृत भारतीय काव्यशास्त्र, (राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली १९६६), पृ० १७०

ध्वनिवादियों की स्थापना है कि यह आस्वादनीय तत्त्व, अथवा काव्य की रमणीय
प्रतीयमान (=व्यञ्जनागम्य) होती है शब्दों द्वारा साक्षात् अभिहित नहीं की जाती
दूसरी ओर उन्होंने ही ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाया है। अतः यह विदित हो
है कि कविता की प्रतीयमान रमणीयता ही ध्वनि है। यही काव्य की आत्मा है।
देश, काल तथा परिस्थितियों की सीमा से परे है, वादों के पिञ्जरे में बन्दी न
बनाई जा सकती। कविता का बाह्य आकार-प्रकार कितना ही बदल जाये, भा
छन्द, पद-योजना तथा उक्ति-वैचित्र्य में कितने ही परिवर्तन क्यों न हो जायें, व
कविता वस्तुतः कविता कहलायेगी जिसमें वह रमणीयता होगी। सहृदय जन सदा
ही कविता की इस रमणीयता की अनुभूति करते रहे हैं, भविष्य में भी वही रमणीय
सहृदयों के हृदय को आह्लादित करेगी। इस प्रकार कविता के साथ उसकी
प्रतीयमान रमणीयता (=ध्वनि) भी शाश्वत तत्त्व हैं।

याणवी लोकगीतों में
कृतिक पुनर्जागरण

डा० भीम सिंह

क गीतों में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की झांकी प्राप्त करने से पहले हमें, संक्षेप
य पृष्ठभूमि में पुनर्जागरण के प्रमुख तत्वों का समाकलन करना समुचित
ता है। भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का प्रवर्तन अंग्रेजी साम्राज्य की
में होता है और सन् १८५७ की देशव्यापी क्रान्ति पुरानी जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था
स राग-सा प्रतीत होती है। इस राज्यक्रान्ति में हिन्दू-मुस्लिम संगठन अपने
र्ष पर लक्षित होता है।[1] एकता की इसी समन्वयवादी विचारधारा को आधुनिक
ी राष्ट्रीय भावना के मूलाधार के रूप में माना जा सकता है। पुनः भारत
ान एवं नवजागरण के प्रत्येक क्षेत्र में पश्चिमी विचारधारा और विशेषत
भाव की छाप स्पष्टत अंकित दिखाई देती है। कारण, हम मुख्यतः १५०
 ब्रिटिश साम्राज्य के शासन के अन्तर्गत तथा बीसवीं शती में यूरोप में होने
न्तिकारी परिवर्तनों से सम्बद्ध रहे हैं। वस्तुतः भारत के राष्ट्रीय
 का उद्देश्य, कम से कम महात्मा गांधी के नेतृत्व में, केवल स्वराज्य तक
 होकर शनैः शनैः भारत के सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं के नवीकरण
 आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रगति की ओर उन्मुख था। इन नए
ा अब भारत को पाश्चात्योन्मुखी न बनाकर अपनी सामाजिक रीतिनीति
 उत्पन्न करने का था। दूसरे शब्दों में, इसे पाश्चात्य विचारों की चुनौती का
कहा जा सकता है। अस्पृश्यता, जातिपाति तथा ग्रामों में अवरुद्ध जीवन में
तना का मंत्र फूंकने के लिए इस युग में पाश्चात्य-दर्शन की अपेक्षा भारतीयों
ीय परिस्थितियों के अनुकूल स्थानीय समाधान खोजने में रुचि ली है। नवीन
 को आत्मसात् करके उन्हें अच्छी तरह अपने आचार-विचार में पचाना ही
शियाई देशों की अपेक्षा भारतीय राष्ट्रवाद की अन्यतम विशेषता कही जा
ै।[2] समन्वय की यह भावना भारत की प्राचीन परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

---

[1] एस. आर. शर्मा : द मेकिंग अव् माडर्न इण्डिया १९५१, पृ० ४६५

[2] के. एम. पणिक्कर : कॉमनसेंस एबाउट इण्डिया फोर्थ सीरिज, इंट्रोडक्शन पृ० ७-८

ध्वनिवादियों की स्थापना है कि यह आस्वादनीय तत्त्व, अथवा काव्य की रमणीयता प्रतीयमान (=व्यञ्जनागम्य) होती है शब्दों द्वारा साक्षात् अभिहित नहीं की जाती। दूसरी ओर उन्होंने ही ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाया है। अतः यह विदित होता है कि कविता की प्रतीयमान रमणीयता ही ध्वनि है। यही काव्य की आत्मा है। यह देश, काल तथा परिस्थितियों की सीमा से परे है, वादों के पिञ्जरे में बन्दी नहीं बनाई जा सकती। कविता का बाह्य आकार-प्रकार कितना ही बदल जाये, भाषा, छन्द, पद-योजना तथा उक्ति-वैचित्र्य में कितने ही परिवर्तन क्यों न हो जायें, वही कविता वस्तुतः कविता कहलायेगी जिसमें यह रमणीयता होगी। सहृदय जन सदा से ही कविता की इस रमणीयता की अनुभूति करते रहे हैं, भविष्य में भी वही रमणीयता सहृदयों के हृदय को आह्लादित करेगी। इस प्रकार कविता के साथ उसकी यह प्रतीयमान रमणीयता (=ध्वनि) भी शाश्वत तत्त्व है।

हरियाणवी लोकगीतों में सांस्कृतिक पुनर्जागरण

डा० भीम सिंह

लोक गीतों में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की झांकी प्राप्त करने से पहले हम, संक्षेप में, राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में पुनर्जागरण के प्रमुख तत्वों का समाकलन करना समुचित प्रतीत होता है। भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का प्रवर्तन अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना से होता है और सन् १८५७ की देशव्यापी क्रान्ति पुरानी जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था का अन्तिम राग-सा प्रतीत होती है। इस राज्यक्रान्ति में हिन्दू-मुस्लिम संगठन अपने चरमोत्कर्ष पर लक्षित होता है।[1] एकता की इसी समन्वयवादी विचारधारा को आधुनिक भारत की राष्ट्रीय भावना के मूलाधार के रूप में माना जा सकता है। पुनः भारत के नवोत्थान एवं नवजागरण के प्रत्येक क्षेत्र में पश्चिमी विचारधारा और विशेषत अंग्रेजी प्रभाव की छाप स्पष्टतः अंकित दिखाई देती है। कारण, हम मुख्यत: १५० वर्षों तक ब्रिटिश साम्राज्य के शासन के अन्तर्गत तथा बीसवीं शती में यूरोप में होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों से सम्बद्ध रहे हैं। वस्तुतः भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य, कम से कम महात्मा गांधी के नेतृत्व में, केवल स्वराज्य तक सीमित न होकर शनैः शनैः भारत के सामाजिक संगठनों एवं संस्थाओं के नवीकरण द्वारा द्रुत आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रगति की ओर उन्मुख था। इन नए सुधारों का ध्येय भारत को पाश्चात्योन्मुखी न बनाकर अपनी सामाजिक रीतिनीति में क्रान्ति उत्पन्न करने का था। दूसरे शब्दों में, इसे पाश्चात्य विचारों की चुनौती का प्रत्युत्तर कहा जा सकता है। अस्पृश्यता, जातिपाति तथा ग्रामों में प्रखण्ड जीवन में नवीन चेतना का मंत्र फूंकने के लिए इस युग में पाश्चात्य-दर्शन की अपेक्षा भारतीयों ने स्वदेशीय परिस्थितियों के अनुकूल स्थानीय समाधान खोजने में रुचि ली है। नवीन विचारों को आत्मसात् करके उन्हें अच्छी तरह अपने आचार-विचार में पचाना ही अन्य एशियाई देशों की अपेक्षा भारतीय राष्ट्रवाद की सर्वतम विशेषता कही जा सकती है।[2] समन्वय की यह भावना भारत की प्राचीन परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

---

१ एस आर. शर्मा : द् मेकिंग अव् माडर्न इंडिया १९५१, पृ० ४८८

२ के. एम. पणिक्कर : कॉमनसेंस एबाउट इंडिया चार्ल्स ... इंट्रोडक्शन पृ० ७-८

इस दृष्टि से आधुनिक भारत के नवोत्थान में दो विशेषताओं का सर्वाधिक महत्त्व है — (१) पश्चिमीकरण की विचारधारा तथा (२) नये ज्ञानविज्ञान के प्रति उसका आकर्षण। पश्चिम से निरन्तर संपर्क करना आधुनिकता का सबसे सशक्त प्रतीक होता है। पश्चिम से दीर्घकाल तक सम्पर्क होने के कारण भारतीय रुचि नए ज्ञान-विज्ञानों के विकास की ओर उन्मुख हुई। अतः आधुनिकतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए विदेशों में जाने वालों का तांता लग गया। इस काल में भारतीय मानस 'कूपमण्डूकता' की परिधि से बाहर निकल कर अपार ज्ञान एवं शोध सागर की लहरों से तरंगायित होने लगा। इस प्रकार भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन केवल राजनैतिक हलचल न होकर समाज के धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं बहुमुखी सुधारों तथा पुन-निर्माण की भावना से आपूरित था।

इस पुनरुत्थान का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष था—हिन्दू धर्म में सुधारवादी प्रवृत्तियों का श्रीगणेश तथा भारतीय संस्कृति के गौरवशाली अतीत एवं स्वर्णिम इतिहास के उज्ज्वल पक्षों का दिग्दर्शन और उनके द्वारा सवलित स्वाभिमान की ज्योति का जनमन में प्रस्फुरण। वस्तुतः काल-प्रवाह की धारा में विलुप्त भारतीय आत्मा की महानता को खोज निकालने का यह एक भगीरथ प्रयास था। संस्कृत भाषा के माध्यम से भारत की जो चिरकालीन बौद्धिक एवं भावात्मक एकता सुगुम्फित थी उसकी ओर उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों में कतिपय चिन्तकों एवं मनीषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। संस्कृत के पुनरुद्धार से हिन्दुओं के हृदय में एक नवीन एवं विशिष्ट जातीय चेतना तथा सांस्कृतिक गरिमा का सूत्रपात होने लगा। केवल हिन्दुओं के धर्म, सामाजिक संगठन तथा साहित्यिक परम्परा के द्वारा ही उनकी जातीय चेतना की अटूट शृंखला का साक्ष्य नहीं मिलता प्रत्युत कला, संगीत, नृत्य एवं संस्कृति के अन्यान्य पक्षों में भी उनकी सामान्य जातीय रिक्त की निरन्तरता के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अतः यह एक ठोस तथ्य है कि स्वाधीन राष्ट्र के रूप में भारत की राष्ट्रीय एकता एवं शक्ति का मूल प्रधानतः हिन्दू जाति की आध्यात्मिक एकता में सन्निहित है।[1] चौदहवीं शताब्दी में उत्तर भारत में हिन्दुओं द्वारा मुस्लिम शासकों का प्रतिरोध, तत्पश्चात् दक्षिण में हिन्दू धर्म के प्रबल केन्द्र के रूप में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना; सोलहवीं शती में राणा सांगा के नेतृत्व में हिन्दू राज्यों के महासंघ द्वारा बाबर से युद्ध; औरंगजेब के विरोध में हिन्दू सम्राट् शिवाजी द्वारा मराठा साम्राज्य की संस्थापना—जिसने उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ तक अंग्रेजों से लोहा लिया तथा सन् १८८५ ई० में स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा ब्रिटिश सत्ता से संघर्ष जो प्रधानतः हिन्दू आन्दोलन (यद्यपि सभी समुदायों को एक झंडे तले लाना भी कांग्रेस का लक्ष्य रहा) था, ऐसे तथ्य हैं जो हिन्दुत्व के पुनरुत्थानवाद के ऐतिहासिक प्रयत्न कहे जा सकते है।

अठारहवी शती के उत्तरार्ध तथा उन्नीसवी के पूर्वार्ध पर्यन्त बंगाल में

---

१. वही वही पृ० १७

राजा राम मोहनराय द्वारा संस्थापित ब्रह्मसमाज ने हिन्दू धर्म तथा समाज में वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की । राजा राममोहन राय वस्तुतः आधुनिक भारत के प्रथम उदारचेता विचारक एवं संस्थापक कहे जा सकते हैं । उनकी धार्मिक विचारधारा पर हिन्दुत्व तथा ईसाइयत का प्रभाव विद्यमान था किन्तु सामाजिक चेतना पर अठारहवीं शती के यूरोप के उद्बोधन की छाप अंकित थी । वे आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा, महिलोद्धार, जाति-पाँति निवारण तथा सामाजिक सुधार के लिए कानून के पक्षधर थे । धार्मिक क्षेत्र में इनके साथ ही श्री रामकृष्ण परमहंस और उनके शिष्य विवेकानन्द तथा आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के नाम भी उल्लेखनीय है । दयानन्द सरस्वती ने तत्कालीन पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात, राजस्थान आदि में आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार किया । आर्यसमाज की विचारधारा नितान्त प्रगतिशील होने हुए भी धार्मिक एवं बौद्धिक दृष्टि से उग्र एवं संघर्षशील थी । इसमें अन्य धर्मों पर तीक्ष्ण सैद्धांतिक प्रहारों तथा शुद्धि आन्दोलन की प्रचंडता के कारण साम्प्रदायिक शान्ति विक्षुब्ध होने लगी थी । इसमें मूर्तिपूजा, धार्मिक एवं सामाजिक पाखंड, अस्पृश्यता, अवतारवाद का घोर विरोध किया गया है । श्रीमती अनी बेसेंट की थियोसोफिकल सोसाइटी ने भी हिन्दू धर्म के नवीन संस्करण में व्यापक एवं उदार यूरोपीय चिन्तन-दृष्टि का सन्निवेश कराया । महर्षि रमण तथा श्री अरविन्द ने भी आधुनिक हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में अनुपेक्षणीय योगदान दिया है । नवीन वैज्ञानिक दर्शन तथा प्राचीन अध्यात्म का स्वस्थ एवं सुसंगत सामंजस्य इनकी दार्शनिक व्याख्या में प्राप्य है ।

सामाजिक सुधारों के लिए उन्नीसवीं शती के आरम्भ में व्यापक लोकमत जागृत हो उठा था । छुआछूत, जाति-पाँति, बाल-विवाह इत्यादि कुप्रथाओं का अन्त यद्यपि कानून के प्रभाव में संभव न था तथापि ये सामाजिक पतन के लिए उत्तरदायी मानी जाने लगी थीं । हिन्दू समाज के भीतर दूरव्यापी क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में (१) शिक्षा का प्रचार तथा (२) उच्च वर्गों का आंग्ल भाषा से सम्पर्क[1] भी गिना

१. विख्यात भारतीय इतिहास के प्रख्यात विद्वान् डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने वर्तमान भारत की रचना में जिन तत्त्वों को सर्वाधिक गतिशील माना है उनमें प्रमुख इस प्रकार है—(१) पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव जिसके द्वारा भारत तथा बाह्य संसार का वैचारिक आदान-प्रदान संभव हुआ । इस नवचेतना ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों के प्रवर्तन, शिक्षा के द्वारा साहित्य एवं पत्र-पत्रिकाओं के विकास तथा राजनैतिक विचारों एवं संगठन के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया । (२) हिन्दू राष्ट्रवाद का जन्म जिसमें बंकिमचन्द्र जैसे साहित्यकारों द्वारा सर्जित वन्दे मातरम् का उत्थान, आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द द्वारा सर्वप्रथम स्वराज्य एवं स्वदेशी का मंत्र दान और आर्यभाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता शामिल है । स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक आधार प्रदान करके वेदान्त तथा भगवद्गीता के द्वारा देशभक्त विप्लवी युवकों को मातृभूमि के लिए आत्मबलिदान करने एवं धर्म-मार्ग के ऊपर होने का संदेश प्रदान किया । अखिल भारतीय कांग्रेस ने अपनी धर्मनिरपेक्ष राजनैतिक विचारधारा तथा व्यापक राष्ट्रस्तरीय संगठन द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-क्रान्ति में परिणत करने का श्रेय प्राप्त किया ।

—आर. सी. मजूमदार : हिस्ट्री ऑफ् फ्रीडम मूवमेंट इन इण्डिया जिल्द १, बुक II ए, इंडियन नेशन इन द मेकिंग पृ० ३८८-४१२ ।

जाना समीचीन होगा। वस्तुतः अंग्रेजी भाषा तथा उसके माध्यम से प्राचीन गौरव की प्रतीक वैदिक चिन्ताधारा का वहन करने वाली संस्कृत भाषा ने भारतीय समाज के सुधार एवं संगठन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भारत की एकता तथा राष्ट्रीय भावना को विकसित करने में पाश्चात्यों द्वारा भारत एवं बृहत्तर भारत के इतिहास की खोज ने भी परिणाम उत्पन्न किए हैं। उन्नीसवीं शती के पूर्वार्ध में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वदेशी की भावना, ग्रामोद्योगों के विकास, अछूतोद्धार आत्मनिर्भरता त विदेशी आर्थिक शोषण के खिलाफ संघर्ष को उभारने में महात्मा गाधी ने विशि भूमिका का निर्वहण किया जिसके कारण पूर्ण स्वराज्य हमारा सकल्प बना।

जिस प्रकार पुनरुत्थानवाद के इस आन्दोलन ने प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य एक नवीन उद्बुद्ध चेतना से परिप्लावित किया है उसी प्रकार ग्रामवासिनी भारत जनता के कलकंठ से भारतमाता के स्तवन को भी झंकृत किया है। किन्तु ग्रामो अनपढ़ जनता पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव बिल्कुल कम पड़ा है और यदि कहीं लक्षित होता है तो भी अप्रत्यक्ष रूप में और प्रतिक्रिया-स्वरूप। नागरिक जीवन होने वाले पाश्चात्य प्रभाव के रंग को देखकर ग्रामीण या तो चिढ़ा है या कुढ़ा है उसने इसका उपहास उड़ाया है। किन्तु हिन्दू राष्ट्रवाद का प्रभाव समग्र ग्रामी की जीवनधारा को प्रवाहित एवं परिचालित करता रहा है। ग्राम-निवासिनी भा माता ने पाश्चात्य संस्कृति की होड़ में अपनी संस्कृति को खड़ा करने, अपनाने उसका तारतम्य सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है। उत्तर भारत में इस दृष्टि सनातन धर्मसभा, हिन्दू महासभा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, कांग्रेस तथा आर्यसम का नाम अग्रगण्य है।

तात्पर्य यह कि उन्नीसवीं शताब्दी विक्रमी का समय भारत के सांस्कृ पुनर्जागरण के लिए अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसी कालधारा के अन्त आर्यसमाज द्वारा उत्तर-पश्चिम भारत में वैदिक वाङ्मय का पुनरुद्धार किया गय गुरुकुलों की स्थापना की गई तथा सामाजिक कुरीतियों एवं धार्मिक अन्धविश्व के उन्मूलन का व्रत ग्रहण किया गया। आर्ष-पद्धति की शिक्षा का समारंभ क अंग्रेजी संस्कृति एवं शिक्षा की बाढ़ को नगरों एवं ग्रामों का प्लावन करने से रो का महत् प्रयास एक चुनौती देने लगा। हरिजनों के उत्थान, नारी-शिक्षा, विध विवाह तथा अनाथों के कल्याण की ओर समाज के नेताओं का ध्यान आकृष्ट हुअ स्वदेश प्रेम का स्रोत भी लोगों के हृदय में हिलोरें ले रहा था। इसी कारण अस्पृश्य पारस्परिक वैर-विरोध, जाति-पाँति के भेदभाव को भुलाकर राष्ट्रीय जागरण एवं एक का आन्दोलन चल निकला। भारतीय संस्कृति की गौरव-गाथा के गान लोककंठ भरने लगे। भारत का प्राचीन इतिहास जन-जन को देशभक्ति, वीरता तथा आ जीवन की श्रेष्ठता का मंत्र प्रदान करने लगा। समाज से बाल-विवाह अविद्या दुराचार को दुत्कार दिया गया। अन्ध-विश्वासों तथा कुरीतियों पर व्यय किए ज वाले धन का घोर विरोध होने लगा। आर्थिक दरिद्रता के घोर संकट में पड़ी जन

की दुर्दशा के लिए पराधीनता को सबसे बड़ी बाधा माना जाने लगा। इस प्रकार स्वराज्य, स्वदेशी, स्वजातीय अभिमान का चक्र देश की दसों दिशाओं को गुंजाने लगा। आर्य समाज के अतिरिक्त महात्मा गांधी द्वारा संचालित कांग्रेस के जन-आन्दोलन ने भी ग्रामों, अछूतों एवं नारियों के उद्धार को महती प्रेरणा तथा पोषण प्रदान किया। स्वराज्य और स्वदेशी की भावना तथा हिन्दी भाषा के प्रचार को भी गांधी जी ने अप्रतिम समर्थन दिया।

हरियाणा में पुनर्जागरण को गतिशील बनाने वाले कुछ ऐसे कारण भी थे जो देश के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा पृथक् थे। इनमें प्रथम महायुद्ध के अन्तर्गत फ्रांस, इटली, जर्मनी, यूनान, जापान आदि स्वतन्त्र देशों में अंग्रेजों की ओर से लड़ने के लिए भेजे गए हरियाणवी सैनिकों का एक बड़ा समूह था। उन्होंने इन स्वतन्त्र देशों की प्रगति को देखकर अपने प्रान्त में भी उस जीवन-प्रतिमा को सजोने का साहस किया तथा इसके लिए स्कूलों की स्थापना की और अपने पुत्रों को नगरों के कालेजों में अध्ययन के लिए दूर-दूर तक भेजा। अंग्रेजी की पढ़ाई पर कुछ वर्गों ने अत्यधिक ध्यान दिया। सन् १९२० ई० के आसपास सर छोटूराम के राजनैतिक प्रभाव ने भी ग्रामीणों को शहरियों के मुकाबले में सगठित करके अपने अधिकारों के प्रति सजग किया। उनके द्वारा संस्थापित जमींदार (किसान) लीग का ध्येय दलित वर्गों के ग्रामीणों विशेषकर कृषकों को सामाजिक-आर्थिक न्याय दिलाना था। सन् १९५० ई० के बाद सामाजिक सुधारों के लिए खाप-पंचायतों का आश्रय लिया गया और विवाह में धन के [illegible] पर रोक लगाई गई। इन सब प्रगतिशील आन्दोलनों की प्रतिध्वनियाँ हरियाणा-लोकगीतों में झकृत हो उठी है :—

(क) टेक-विद्या बिना यह भारतदेश हो गया बरबाद।
  [illegible]-पढ़ते यहाँ होते थे सदाचारी, उनकी जगह हुए व्यभिचारी,
    बिगड़ गई सब बुनियाद। विद्या बिना ।
  विद्या पढ़ो, पढ़ाओ, आपस में प्रीत बढ़ाओ।
    सुधर जाए सब औलाद, विद्या बिना ।
  विद्या बिन हुए अनारी, भोगते कष्ट सब नरनारी,
    सुने ना कोई फरियाद। विद्या बिना ।

विद्या की महिमा के इस गीत में हरियाणा के लोककवि [illegible] ने देश की दुर्दशा का कारण अविद्या को बताया है। [illegible] को परिलक्षित हो रही है :—

(ख) [illegible] सभा में आइए ना, हरिगुण में [illegible]।
  [illegible] कर, पति को दो बार [illegible]।—
  [illegible] को [illegible], [illegible] बिना [illegible]।
  [illegible] मत बोलिये न, [illegible] घर घर [illegible]।
  [illegible], अब दे पूरे परीक्षा निकालेगी,
  [illegible] पद पावेगी।

(ग) अंग्रेजी तालीम जहर का प्याला है।……।

वेश्यावृत्ति का भी घोर विरोध किया गया। वस्तुतः मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में समाजसुधार के लिए जो कार्य सन्तकविवर कबीर ने किया लगभग वैसा ही कार्य हरियाणा में शतोत्तरजीवी प० बस्तीराम ने किया। खंडन-मंडन शैली की उग्रता दोनों में विद्यमान है। कबीर ने दीक्षा स्वामी रामानन्द से ली थी तो बस्तीराम ने ऋषि दयानन्द से। वेश्याओं को उद्बोधन करते हुए प० जी कहते हैं :—

(घ) चकले के सजान वाली जरा पापों का ध्यान कर।
लोकलाज कुलकान गवाई, कर शृंगार सभा में आई,
अरे, जिन मां-बापों ने तू जाई मत उनको बेमान कर,
कुल तीन लजाने वाली। चकले……।
हरिसिंह हमदिल घबराया, किस कारण यह पाप कमाया,
रसकपूर बहुतों को खिलाया, बस्तीराम की तू टाल कर
पानों के चराने वाली। चकले……।

इन गीतों की भाषा पर भी आर्यसमाजी प्रभाव है। संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली को ही आर्यसमाज ने आर्य-भाषा कहा है। बस्तीराम प्रभृति प्रचारकों की भाषा पर स्थानीय बोली की रंगत के साथ-साथ आर्यभाषा की छाप भी अंकित रहती है। इसी काल में मेरठ जनपद में लोकगायक शंकरदास तथा धीसा हुए हैं जो हरियाणा के मेलों में तथा ग्रामों में अपनी कविता से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध करते थे। वीर-भाव तथा सात्विक क्रोध का पक्ष लेते हुए वे बोलचाल की खड़ी बोली तथा मिश्रित हरियाणवी में गाते हैं :—

(ङ) गम ना सब जगह बड़ी है, कही भग जाएगी पिटवायके। टेक
शूरवीर रण में गम खा के, पड़ता बीच नरक के जा के
किरोध करे जो तेग बहा के, जीते जुज्झ अघाय के
उस नर को धन्य घड़ी है। गम ना………।
जे नरसिंह जी गम कू खाते, जन पहलाद बचने नही पाते
नर नारी सब सोर मचाते, नैनो नीर बहाय के
गम तज तकदीर लड़ी है। गम ना………।
जे राजा गम खाज्या, बसकर, कपटी पापी बढज्या तसकर
कट घीसा चरणन में फसकर, भगवत के गुन गाय के
पिंगल की कथनी जड़ी है। गम ना………।

हरियाणा के प्रसिद्ध एवं वर्तमान लोकगायक श्री पृथ्वीसिंह 'बेधड़क' ने बड़ी फड़कती हुई खड़ी बोली मिश्रित हरियाणवी में महन्तों के ऐश्वर्य, भोगविलास एवं पाखंड का खंडन किया है। हरिद्वार जैसे पवित्र तीर्थ के घोर अधर्म पर भीषण प्रहार करते हुए वे कुलीन महिलाओं को चेतावनी दे रहे है :

(घ) हरद्वार हिन्दुस्तान मे मर्ने देगे लोग लफगे।
किसानों की झोपड़ी और टूटी-फूटी छान हैं,
सोने के कलसो वाले ये मोड्डो के मकान हैं,
फिर भी ये भिखमगे, हरद्वार हिन्दुस्तान के मैं ·······
कोई चढ रहा लारी पर कोई चढ रहा हाथी पर,
सोने की अम्बारी निकले भारत माता की छाती पर।
ऐश करे मसटंडे, हरिद्वार हिन्दुस्तान—
भले घरों की बहू-बेटियां बना-बना कर टोली,
दरसन कर लो दरसन कर लो आपस मे यूं बोली,
आते हैं नग-धड़ग, हरिद्वार हिन्दुस्तान—।
हरिद्वार मे रिसी-मुनी कभी वेद सास्तर बाचते
अब पैरो मे बाध घुघरू लगे मोड्डे नाचते
धरी तेरे ऊपर गगे। हरद्वार हिन्दुस्तान मे—।
इसी तरह जे हरद्वार मे नगे फकीर डोलेगे
किसी दिना पिरथवीसिह इस भूमि पर कोव्वे बोलेंगे
टूटेगें छत-बरगे, हरद्वार हिन्दुस्तान मे।

बालक दयानन्द और उसकी माता का सवाद एक गीत मे है। दयानन्द घर बार छोड़कर ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनय करता है और माता उसे गृहत्याग से रोकती है। गीत का वात्सल्य-भाव बड़ा मार्मिक एव हृदय-स्पर्शी है—

बेटा, माता बरजे रे पूत को, बेटा मत ना हूदए रे फकीर,
तेरी याणी रे उमर, बाणी वेद की। टेक
बेटा, कौण तन्ने देगा रे खाण ने, और किसने कहेगा सुख साथ,
तेरी याणी रे उमर ·····।
बेटा, धूप पडै रे धरती तपे, तेरी कवल सूरत मुरझाय,
तेरी याणी रे उमर ·····।
जब आवे सामण भादवा, और बरसेंगे मूसलधार,
तेरी याणी रे उमर ·····।
तेरे बह जायगे धूणी रे मायरा, और कुछ नहीं पार बसाय,
तेरी याणी रे उमर ·····।
माता, ईश्वर देगें री खाण नें, और घर घर तेरे जैसी माय
तेरी याणी रे उमर ·····।
बेसक धूप पड़ी री धरती तपो, माता ओटेंगे इस सरीर।
तेरी याणी रे उमर ·····।
सारी रात दिना के है चादणे, जा के किया पहाड़ां मे बास,
तेरी याणी रे उमर ·····।
गुरु विरजानन्द जी सा जाय के, जिनमें कर दिया वेद प्रकास,
तेरी याणी रे उमर ·····।

महर्षि दयानन्द की वैदिक विचारधारा का प्रभाव हरियाणा में बहुत गहरा पड़ा। वेदों की शिक्षा और गुरुकुल-पद्धति एक आन्दोलन के रूप में जनमानस पर छाने लगे। पुत्रोत्सव के समय गाया जाने वाला हरियाणवी लोकगीत इसका प्रमाण है :—

मेरा बगड़[1] लड़का सुसरा क्यू फिरे, यहूं लड़के नैं गुरुकुल घाल्य,
लड़के के हिरदे मैं ज्ञान से।

ससुर जी दस के लड़का निदान[2] से, आगे नैं गुरुकुल द्यूंगी घाल्य,
लड़के के ········।

मेरा घर में सोन्दा[3] कल क्यू रहे, मेरी प्यारी लड़के नैं गुरुकुल घाल्य
लड़के के हिरदे मैं ज्ञान से।

कहीं मा गा उठती है—अपने प्यारे लाल नैं पढ़ाऊं गुरुकुल मैं।

इसी प्रकार कन्या-शिक्षा का प्रचार होने लगा और लोग अपेक्षा करने लगे—

पहले जैसी नारी बनें कन्या पाठशाला में
जनक की दुलारी बनें कन्या पाठशाला में।—बेधड़क

सोता हुआ राष्ट्र जाग उठा और गायकों ने भारतवासियों को सम्बोधित किया—

(क) भारतवासी जागो तुम वीरों की सन्तान हो।—

(ख) भारत के भाग्य तू, सोता क्यू जाग तू।
भारत की एक बहादुर बेटी लक्ष्मीबाई झाँसी,
उलट-पुलट किया कतल सांडरस वीर भगत चढ़े फाँसी
रेल को फाग तू, भारत के भाग्य तू।
इस कोने से उस कोने तक हुई दुनिया में हलचल,
कलकत्ता देखा पेशावर जालिया पेशावर से काबुल,
नेता सुभाष तू, भारत के भाग्य तू।··· ··।

ऐसे प्रेरणादायक गीतों को सुनकर जन-मन अशांत और विक्षुब्ध हो गया। मातृभूमि को स्वाधीन करने के लिए लोगों ने गांधी जी के नेतृत्व का अनुसरण किया। गृहस्थी के धंधों को छोड़कर सत्याग्रह के लिए वीरों ने आत्मसमर्पण किया—

---

१. चौपाल
२. कम आयु का
३. सोता हुआ

अम्मा तो रोवै, रे बीरा भातजी, कौन भरेगा भात[1],
गांधी ने झंडा 'ठा दिया।
तू क्यों रोवे री भैना[2] गांधी से भरेंगे भात,
गांधी ने झंडा 'ठा दिया[3] —

सत्याग्रहियों ने देश के लिए आत्मबलिदान किया। साथ ही विलायती माल का बायकाट और स्वदेशी के प्रति रुचि जागृत हुई। अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण की दुरभिसंधि के विरोध में नरनारियों में सक्रिय असन्तोष एवं दृढ़ता लक्षित होने लगी। लड़कियों में परामर्श होने लगा :—

तुम बूंद[4] विलायती छोड़ो हे सखी, गांधी महात्मा आ रहे हैं।
तुम खद्दर पहना करो हे सखी,' '।
तुम नथ और बाली छोड़ो हे सखी,
तुम मिल का सूत पिराना छोड़ो हे सखी,
घर का पिसा खाया करो,
गांधी ·· ··· ···
तुम फिल्मी गाने छोड़ो हे सखी, गांधी के गीत गाया करो।
गांधी··· ··· ···।

गांधी जी की मृत्यु पर भी लोक कवियों ने अपनी शोक समवेदना व्यक्त करके उस राष्ट्रनायक के प्रति अत्यन्त भाव-भीनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत की है। सचमुच उनकी मृत्यु से राष्ट्र अनाथ-सा हो गया था। गीत का बिम्ब कितना मर्मभेदी है :—

(क) भारत के चन्दरमा छिपग्ये, रहे बिलखते तारे,
नत्थू नीच मरहटा था जिनें गांधी जी मारे।
करण प्रार्थना गया हुआ था जुलम हुए दिन धौली,
बाएँ-दाएँ दो कन्या थी भरे पिता की कोली,
बेदरदी नें दया करी ना तीन मार दी गोली,
बहुत-से मानस कट्ठे होग्ये कणा कणा के टोली।

(ख) बाला कुणबा[1] छोड़ पिता जी सुरग लोक में सोग्ये।
हे भारत के नरनारी बिना पिता के होग्ये,—
पहली गोली लाग्यी कोन्या दूजी मे घबराए
तीजी गोली मे प्राण त्याग दिए मौत घाट पे आए
हे नत्थू तनें सरम ना आई किते कुआ जोहड ना पाया।[2]

---

१ विवाह में भाई द्वारा देय धन-वस्त्रादि
२. बहन
३. यह गीत यमुना के खादर क्षेत्र के हैं और खड़ी बोली में प्रभावित हरियाणवी में हैं।
४ बूंदोंमार छींट का वस्त्र।
१. छोटे बाल-बच्चों वाला कुटुम्ब
२. डूब मरना

देशभक्ति के गीतो द्वारा मातृभूमि की लाज बचाने के लिए माताएं अपने लालों को प्रेरित करती है। चीन और पाक के साथ हुए संघर्षों मे भी हरियाणा के वीर सूरमाओ तथा वीरांगनाओ में उत्साह की लहरें उठती हैं और वे मा के दूध अथवा गौरव की रक्षा निमित्त अपना सर्वस्व होम करने के लिए उद्यत रहते हैं :—

(क) कर देश की रक्षा, चालय, लाल मेरे सज-धज के।
अरिदल नें सीमाएं तेरी, चारों ओर से आकर घेरी,
क्या इसका नही ख्याल, लाल मेरे सजधजके।
जिस दिन के लिये तनें दूध पिलाया, वो आज लाडले आया,
करके दिखा कमाल, लाल मेरे—
शहादत है जाने की आना, आया है उसे होगा जाना,
धनी हो या कगाल, लाल मेरे......।

यहां आत्मा के अमरत्व का सदेश देकर प्राणोत्सर्ग की बात कही गई है। गीत की इन पक्तियो को पढकर गीता के उपदेश का स्मरण हो आता है। एक बालिका भी अपनी माँ से रणक्षेत्र मे जाने के लिए मचलती हुई गाती है :—

(ख) मैं चीन से लडने जाऊंगी, मानू ना मेरी मा।
ये सारा जेवर बेचूगी, कुछ रक्षा-कोष मे दयूगी
कुछ के हथियार मंगाऊंगी, मानू ना मेरी मा।
उस पापी आततायी के, चाऊ-एन-लाई के
सिर पै गोले वरसाऊँगी, मानू ना मेरी मा।

दलितोद्धार, मानवीय करुणा विश्वबन्धुत्व, नारी-जागरण—समाज-सुधार, देशभक्ति, सास्कृतिक नवजागरण, धार्मिक जागृति तथा राजनैतिक चेतना के गीतो के अतिरिक्त ग्रामोत्थान एव आर्थिक निर्माण के गीत भी उपलब्ध हैं। किसान-मजदूर के प्रति गायको का ध्यान आकृष्ट हुआ। ऐसे प्रगतिशील तत्व गीतो मे स्थान पा सके हैं—'किसान, तेरा हाल देख के मेरा जीवडा रोया'। इस प्रकार हरियाणा के लोकगीतो मे सास्कृतिक एव राष्ट्रीय पुनर्जागरण के साथ-साथ आधुनिक जीवन की प्रगति एवं विषम जटिलताओं का आकलन दर्शनीय है। इनमे दलितो, शोषितों तथा उपेक्षित प्राणि वर्ग तक की चेतना स्पंदित हुई है। सास्कृतिक पुनर्जागरण के अन्य सूक्ष्म पक्षों के व्यजक गीत भी इनके भीतर खोजे जा सकते हैं।

'पृथ्वीकल्प' की भूमिका : एक पर्यालोचन

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

'पृथ्वीकल्प' गिरिजाकुमार माथुर द्वारा लिखित नाट्य काव्य है। इसके कुछ अंश 'कल्पना' नामक पत्रिका में इस ढंग से प्रकाशित हुए थे कि समूचे नाट्य काव्य का प्रतिनिधित्व हो सके।[1] कवि ने इस रचना के आरम्भ में एक विस्तृत, विचारपूर्ण भूमिका भी दी है, जिसमें उसने अपने काव्य-भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। वस्तुतः आज के वैज्ञानिक युग में नये 'भाव-बोध' का प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण है, वैज्ञानिक युग की काव्य-भाषा का प्रश्न उससे किसी भी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सच तो यह है कि नया 'भाव-बोध' और नयी 'काव्य-भाषा' ये दो अलग-अलग प्रश्न न होकर एक ही प्रश्न के दो पक्ष है। पृथ्वीकल्प की भूमिका का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ गया है कि वर्तमान हिन्दी-समालोचना में 'आधुनिकता' और 'आधुनिक भाव-बोध' के विषय में जितनी चर्चा हुई है, उसका दशमांश भी काव्य-भाषा की नहीं हुई। उक्त भूमिका काव्य-भाषा के विषय में विवेचन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है।

'पृथ्वीकल्प' के रूप में गिरिजाकुमार माथुर ने नव भाव-बोध और नव काव्य-भाषा के क्षेत्र में नया प्रयोग किया है। 'पृथ्वी कल्प' के स्वरूप के विषय में उन्होंने लिखा है "'पृथ्वी कल्प' को मैं विज्ञान-काव्य मानता हूँ और उसी रूप में मैंने इसे लिखा है।"[2] उन्होंने इस काव्य में प्रयुक्त भाषा के सम्बन्ध में लिखा है "इसमें मैंने न केवल आधुनिक टेक्नालाजी से सम्बन्धित वैज्ञानिक शब्दों [illegible] भाषा का प्रयोग किया है, बल्कि मैंने नये शब्द भी रचे हैं।"[3] ऊपर दिए गए दोनों उद्धरणों में दो बातें विचारणीय हैं—(1) विज्ञान को [illegible] 'विज्ञान-काव्य' की रचना कहाँ तक सम्भव और [illegible] है? [illegible] से सम्बन्धित है। (2) दूसरा प्रश्न काव्य-भाषा से सम्बन्धित है। [illegible]

---

१ दे० 'कल्पना', अप्रैल, १९६० पृ० १०-११

२ वही पृ० १८

३ वही पृ० १८

नही थी। उन प्रक्रियाओं के घटित हुए बिना कृत्रिम शब्द और शब्द-कोष बना लेने से काम नहीं चलेगा। शब्द तो बन सकते हैं और बनाये भी जा रहे हैं, किन्तु उनमे वह अर्थवत्ता नहीं हो सकती जो केवल शब्दों के ऐतिहासिक सन्दर्भो से प्राप्त होती है।"[9] इस प्रकार शब्दों के गढने के पीछे जो सिद्धान्त था, उसका कवि के द्वारा ही अन्त सिद्ध हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि कवि कृत्रिम भाषा की निरर्थकता और ऐतिहासिक विकास-क्रम मे जीवन से अर्थवत्ता अर्जित करने वाली जीवन्त काव्य-भाषा की शक्ति से भली भाँति परिचित है।

इस प्रकार गढे हुए शब्दो के पीछे निहित सिद्धान्त की पहले अनेक तर्को द्वारा स्थापना करके और बाद में स्वय ही उसका खोखलापन सिद्ध करके कवि को अन्ततः कविता मे विदेशी पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग की बात ही जंचती है। वे कहते हैं "अतः विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो से प्रेरणा-प्राप्त काव्य-रचना मे यदि विदेशी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाए, तो वह अनुचित नही है क्योंकि आधुनिक विचार-वस्तु का वातावरण उनके बिना सम्भव नहीं है।[10] उपर्युक्त कथन भी केवल एक सीमा तक ही सही है। यदि स्वदेशी और विदेशी वैज्ञानिक शब्दावली एक ऐतिहासिक विकास-क्रम के परिणामस्वरूप हमारे (सामान्यजन के) चिन्तन और उससे भी अधिक भावन का अंग बन चुकी है और इस प्रकार अपनी पारिभाषिकता खोकर अनुभूति-क्षेत्र मे उतर आई है, तो ऐसी शब्दावली कविता मे निश्चय ही अनायास आ जायेगी, उसे जान-बूझ कर भरने की आवश्यकता नही पडेगी। यदि कवि के उक्त कथन का यही अभिप्राय है, तो इसमे वैमत्य का कोई प्रश्न ही नही उठता। किन्तु कवि का यह आशय प्रतीत नहीं होता। "विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो से प्रेरणा-प्राप्त काव्य-रचना" ' विदेशी पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग" और "आधुनिक विचार-वस्तु का वातावरण" आदि कथनांश उक्त आशय से भिन्न आशय की व्यंजना करते प्रतीत होते हैं। कवि की रचना "विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रेरणा प्राप्त" नही करती, वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रो और उनसे सम्बद्ध अनुभूतियो से प्रेरणा ग्रहण करती है, फिर भले ही उन जीवन-क्षेत्रों पर विभिन्न वैज्ञानिक क्षेत्रो का भी प्रचुर प्रभाव पड चुका हो। कवि के आशय को समझने के लिये इसके पीछे निहित मनोवृत्ति से उसकी कविता की भाषा पर ध्यान देना अधिक व्यावहारिक होगा। दूसरे छायार्द्ध के कुछ अश दर्शनीय हैं :

(१) "सावधान
मनु तोड़ें
'मान'
गदर पट
परमाणु धूप के 'रॉकेट'
'मौन'"[11]

---

९. वही पृ० १९
१०. वही पृ० १९
११. वही पृ० २०

(२) "समय कैमरा के 'फोटोन-नयन,'
मौन
चित्रांकन का 'प्लेट-रिकार्डिंग'
'औन'[१३]

(३) "'स्ट्रिप्टीजों" 'फोलीबर्जों 'बलेस्कों' से
'रौकिन रोलों', 'हूला-हूपों' से
'उरियाँ नाइट क्लबों' से
जन-जन के मन में
कामसूत्र के नये त्रिभग बिठाऊंगी
संस्कृति पर विकृतियों के 'रूज' लिपिस्टिक की छाप लगाऊंगी।[१४]

'पृथ्वी-कल्प' में से ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं, उनकी भाषा हिन्दी है या अंग्रेजी या न हिन्दी है न अंग्रेजी – यह कहना कठिन है। सौभाग्य यही है कि 'विज्ञान-काव्य' के रूप में इस नाट्य-काव्य की रचना करने का दावा करने के बावजूद भी कई स्थानों पर कवि का हृदय वैज्ञानिकता के आरोपित आग्रहों से ऊपर उठकर मानवीय सन्दर्भों की राग-संवलित अभिव्यक्ति कर सका है और ऐसे स्थलों पर काव्य भाषा का रूप भी सहज, स्वस्थ और सशक्त है। प्रस्तुत 'विज्ञान काव्य' के अन्तिम उपाक में 'रेडियो एक्टिव' तूफान के कारण उपस्थित विनाश-लीला का चित्रण भावोद्बोधक गत्यात्मक बिम्बों से ओतप्रोत होने के कारण मार्मिक बन पड़ा है। उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ जीवन पर विज्ञान-क्षेत्र का प्रभाव भी स्पष्टतः अंकित है, फिर भी कवि ने अपने सिद्धान्त के अनुसार विदेशी वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है :—

उखड़ रहीं हैं एक साथ मीलों की फसलें
जंगल झूम-झूम कर उखड़े
उड़ते भारी वृक्ष उपट कर
मिट्टी के लोंदे उड़ रहे
नदियाँ उछल रहीं ऊपर को
लोल भयंकर बाहें फैंकी बाढ़ आ रही।[१५]

कई स्थलों पर कवि के आग्रह स्वयं पराजित हो गए हैं और वह '[illegible]' बनते-बनते लौटकर पुनः छायावादी बन गया है –

'एक शुभ्र ज्योति, शान्त, चेतन
नील, लोहित, हरित, श्यामल
रिमु-वसन तन, सिन्धु आँचल

१२. वही पृ० २७-२८
१३. वही पृ० ३०
१४. वही पृ० ३६

समीक्षा (नये प्रकाशन)

'स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ' और 'स्वर्ण जयन्ती-समारोह स्मारिका',—प्रकाशन दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास ; मूल्य क्रमश: १५ रु० तथा २ रु०।

अप्रैल सन् १९७१ में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास का स्वर्ण जयन्ती समारोह हुआ था। उसी अवसर पर ये 'स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ' एवं 'स्वर्ण जयन्ती स्मारिका' प्रकाश में आये। इन दोनों को मिलाकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्ववन्द्य महात्मा गांधी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी का दक्षिण में प्रचार करने के लिए सभा की स्थापना का स्वप्न ही साकार नहीं किया, अपने पुत्र स्व. देवदास गांधी को राष्ट्रभाषा का प्रथम वर्ग संचालन करने को भी भेजा। यही क्यों, देश के विशेषत: दक्षिण के श्रेष्ठतम विद्वान्, कलाविद्, राजनेता और साहित्य सेवी सभा से सम्बद्ध रहे, और आज भी हैं।

'स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ' 'साहित्य-भाषा-खण्ड', 'संस्कृति-कला-खण्ड' और 'सभा इतिहास खण्ड'—इन तीन भागों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में दक्षिण की चारों भाषाओं तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड—की भाषा वैज्ञानिक एवं साहित्य-विषयक उपलब्धियों की चर्चा राष्ट्रभाषा हिन्दी के साथ तुलना करते हुए की गई है तो संस्कृति-कला खण्ड में इन प्रान्तों की कलात्मक सृष्टि को भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में देखा-परखा गया है। तृतीय खण्ड तो सभा की गतिविधियों को विस्तार में प्रस्तुत करता ही है। इस प्रकार दक्षिण को भारतीय राष्ट्र की सुदृढ़ इकाई के रूप में प्रस्तुत करने में यह ग्रन्थ पूर्ण रूपेण समर्थ है। अधिकारी विद्वानों की रचनाएं देकर ग्रन्थ को दक्षिण की साहित्यिक, कलात्मक एवं सांस्कृतिक निधि का बहुमूल्य कोश बना दिया गया है। यह ग्रन्थ जहाँ हिन्दी की क्षमता से अनभिज्ञ व्यक्तियों की आँखें खोलने वाला है वहाँ विघटनकारी प्रवृत्तियों पर भी रोक लगाने वाला है। हमारा सुझाव है कि केन्द्रीय सरकार इस ग्रन्थ की लाखों प्रतियाँ छपवा कर देश की प्रत्येक शिक्षा-संस्था और पुस्तकालय को उपलब्ध कराए। ग्रन्थ के सम्पादक-व्यवस्थापक दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

× × ×

प्रेम पीयूष—लेखक-श्री सत्यनारायण मिश्र विशारद, प्रकाशक-प्रमोद मिश्र, साइंस निवास, श्री जयनारायण डिग्री कालेज लखनऊ, मूल्य ४ रु० ५० पैसे।

ब्रजभाषा मध्ययुग में भारत की वैसी ही राष्ट्रभाषा रही है, जैसी कि प्राचीनकाल में संस्कृत। संस्कृत की भांति ब्रजभाषा ने भक्ति और रीति युगों की काव्य-सम्पदा की वाहिका बनकर भारतीय संस्कृति की अक्षय निधि को सुरक्षित रखा। विशेष रूप से काव्य के उत्कर्ष में उसका योगदान अविस्मरणीय है।

आधुनिक युग मे भी चिरकाल तक सुधीजन काव्य के लिए खड़ी बोली की
व्रजभाषा को ही महत्त्व देते रहे। यहाँ तक कि जब छायावाद ने खड़ी बो
स्निग्धता एवं मृदुता देकर नयी अभिव्यंजना के लिए सूक्ष्म बना दिया त
कविवर सत्यनारायण और महाकवि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जैसे सिद्ध कवि
सामर्थ्य का बोध कराते रहे। 'रत्नाकर' के बाद उसका प्रयोग चाहे होता र
और व्रजभाषा-प्रेमी उसमें गद्य लिखने का साहस भी करते रहे हों, किन्तु
ऐसी रचना देखने मे नही आई थी जो व्रजभाषा के प्राचीन सिद्ध कवियो का
दिलादे। हर्ष की बात है कि डॉ॰ लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक' का 'प्रेम पीयूष
अभाव की पूर्ति करता है। 'प्रेमपीयूष' का प्रसंग वही उद्धव-गोपी-संवाद है, जो
जैसे महाकवियों की प्रतिभा का ही सार नही है, नन्ददास, सत्यनारायण, रत्न
मैथिलीशरणगुप्त के काव्य का भी शृंगार है। इन सभी कवियो ने इस प्रस
माध्यम से अपनी प्रेम-कथा, दार्शनिक दृष्टि अथवा देश-प्रेम की व्यंजना क
'निशक' जी ने भी उसी परम्परा में अपने 'भाव विह्वल हृदय की अनुभूति
'व्यावहारिक व्रजभाषा' मे व्यक्त किया हैं। दार्शनिक खण्डन-मण्डन को साम्प्र
प्रवृत्ति से बचकर बुद्धिवाद को हृदयवाद से हीन सिद्ध करने की ओर ही
लक्ष्य रहा हैं। यह स्वाभाविक भी था, क्योकि आज बुद्धिवाद के अतिरेक ने
भावना को दबा दिया हैं और सारा सकट इसी विषम स्थिति की देन है
'निशक' जी ने इस प्रसग को युगानुकूल स्वरूप भी प्रदान किया है।

अत्यन्त परिष्कृत, सहज और सरस व्रजभाषा मे लिखे गये ये सवैये
को मुग्ध कर देते हैं। ऐसी स्वत· स्फुरित रचनाएँ खड़ी बोली मे भी कदा
कम होगी। तर्क गोपियाँ भी देती हैं पर उनका ध्येय उद्धव को व्यंग्य
उपहास द्वारा निरुत्तर करना नही है और न अनुचित उपालम्भ देने मे
उनकी रुचि है। वे तो अपने हृदय की अनन्त प्रेम-राशि को उद्धव के समक्ष र
अपनी प्रेम-निष्ठा का परिचय देना चाहती हैं। उसी से उद्धव को हृदय-परि
के लिए बाध्य करके अपनी अनन्यता सिद्ध कर देतीं हैं। अनेक स्थानों पर उ
व्यथाभिव्यक्ति पाठक को भी अश्रु-विगलित बना देती है। ऐसी श्रेष्ठ रचना के
कवि 'निशंक' सर्वथा साधुवाद के पात्र हैं। आशा है, यह काव्य यथोचित सम
पायेगा।

—डॉ॰ 'कम

× × ×

पत्थरों का शहर (उपन्यास)—सुरेश सिनहा प्रकाशक—लोकभारती प्रका
इलाहाबाद : पृ॰ ३२८। मूल्य १४ रु॰।

गाव का स्वप्न, अपने गाव मे सिमटा जीवन दिल्ली जैसे महानगरों मे
भी विघट हो रहा है। क्योंकि निरंतर सर्वेमा पड़ कर सोचने को विवश हो

है—आखिर, यह कैसा पत्थरों का शहर है। हर आदमी बस, दया—माया रहित प्राणी है। यहाँ न कोई अपना है, न कोई पराया।—आधुनिक जीवन की इस त्रासदी को, दिल्ली के परिवेश में, सुरेश सिनहा ने अपने नये उपन्यास 'पत्थरों का शहर' में अनेक स्तरों पर सूक्ष्मता से उभारा है और इस समस्या का उत्तर पाने का प्रयत्न किया है। व्यक्ति के रूप में, विवेक के असफल प्रणय और रोजी के लिए ठोकरें खाने की कहानी है। परिवार के स्तर पर, उसके भरे-पूरे कुटुम्ब 'वसन-विला' के विभिन्न आयु और स्वभाव वाले सदस्यों की अपनी-अपनी राहें और उनके बीच की दूरियाँ हैं। और समाज में, दिल्ली का समूचा जीवन है- यहाँ के बाजार, भीड़ें और संस्थायें।

उपन्यासकार ने विविध प्रकरणों और पात्रों के माध्यम से आधुनिक बोध को स्पष्ट किया है। यह ऐसा बोध है जो मध्यकालीन नहीं, परंपरित नहीं, वरन् नया है, स्वतंत्र है। मध्यकालीन दृष्टि के अनुसार, मनुष्य कालधारा का निश्चेष्ट घटक बन कर उसका अनुसरण-मात्र करता था। उसमें परंपरा के प्रति समर्पण था, भावुकता थी। अब विज्ञान के विकास और वैज्ञानिक दृष्टि के उन्मेष ने जीवन पर 'क्यों और कैसे' की निरन्तर प्रश्नावली प्रस्तुत करके उसे समझने की नई क्षमता प्रदान की है। 'आधुनिक' व्यक्ति के आत्मविश्वास ने उसे नियति की उपेक्षा, इच्छाशक्ति पर निर्भर होना सिखाया है। किन्तु अधकचरे लोगों ने आधुनिकता के नाम पर प्रचलित मान्यता-मात्र को ठुकरा कर और संयम को त्याग कर मनमानी करने की छूट पा ली है। उन्होंने आत्मनिर्णय के स्थान पर स्वैराचार को अपनाया है। ऐसे लोग प्रगति, अनास्था और आत्मरति का ही जीवन, आधुनिकता मान बैठे हैं।

व्यक्तिगत जीवन की असफलताओं पारिवारिक उलझनों और सामाजिक विषमताओं के बीच जूझता हुआ व्यक्ति बड़ा [illegible] [illegible] और आत्मावलोकन के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर [illegible] है कि [illegible] और पलायन उसकी नियति नहीं है। उसे जीना है, और [illegible] और सार्थक सक्रियता से ही बेहतर जिन्दगी जिए सकती है। [illegible] के बीच जी रहा हुआ आदमी [illegible] से [illegible] [illegible] को [illegible] सकता है और अनन्त आकाश का विस्तार [illegible] सकता है। निश्चिन्तता तो दीमक के कीड़े की तरह जिन्दगी की [illegible] को चाट डालती है।"

उपन्यास रोचक तथा सरस है। [illegible] निरखने-परखने तथा आधुनिक दृष्टि को [illegible] है। शिल्प सूक्ष्म और सधा हुआ है।

—डॉ० [illegible]

गुजराती सन्तों की हिन्दी वाणी—(समालोचना), निदेशक व प्रधान सम्पादक डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रकाशक—सरदार पटेल यूनिवर्सिटी, वल्लभ विद्यानगर, गुजरात, पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य पाँच रुपये।

'गुजराती सन्तों की हिन्दी वाणी' श्रीराम ट्रस्ट अमरावती (महाराष्ट्र) के आर्थिक योगदान से सरदार पटेल यूनिवर्सिटी के तत्वावधान में स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित त्रिदिवसीय परिसंवाद-गोष्ठी में प्रस्तुत शोध-सामग्री का मुद्रित रूप है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'अखा', प्राणनाथ, आनन्दघन, प्रीतम, गवरीबाई तथा ब्रह्मानन्द नामक गुजराती सन्तों की हिन्दी वाणी के शोधन, विश्लेषण और मूल्यांकन से सम्बन्धित छह लेख संकलित हैं, जो विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। एक सुचिन्तित योजना के अन्तर्गत सुनिर्धारित ढंग से लिखे जाने के कारण सभी लेख शोध और समालोचना के उच्च स्तर को बनाये रखने में अत्यन्त सफल रहे हैं। यदि ग्रन्थ में गुजराती सन्तों की साधनागत और काव्यगत सभी उपलब्धियों के आकलन और मूल्यांकन को दृष्टि में रखकर एक लेख उपसंहार-स्वरूप अन्त में तथा उनकी पृष्ठभूमि और प्रेरणाओं को ध्यान में रखकर एक लेख आरम्भ में और जोड़ दिया जाता तो सम्भवतः पहले से ही मूल्यवान् ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ जाती। यों एक सीमा तक उक्त आवश्यकता की पूर्ति प्रधान सम्पादक द्वारा लिखित भूमिका (प्राक्कथन) से हो गयी है, जिसमें उन्होंने सारग्राही दृष्टि से गुजराती सन्तों की वाणी की मूल विशेषताओं और उनके प्रेरक तत्त्वों का संक्षिप्त किन्तु गम्भीर विवेचन किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का महत्त्व साहित्यिक होने के साथ ही सांस्कृतिक और सामाजिक भी है। गुजराती सन्तों की वाणी में देश की सभी सगुण-निर्गुण भक्ति-पद्धतियों का जो सहज समाहार हो गया है, उसमें भावनात्मक एकता का आदर्श अपने समुज्ज्वल रूप में चरितार्थ हुआ है। प्रत्येक लेख के अन्त में, सम्बन्धित संत की वाणी से चुने हुए पदों के नमूने पर्याप्त संख्या में प्रस्तुत किये गये हैं, जिनसे विद्वान् लेखकों के विवेचन और निष्कर्षों की प्रत्यक्ष रूप में पुष्टि हुई है और साथ ही यह स्पष्ट हो जाता है कि गुजराती सन्तों की हिन्दी वाणी हिन्दी-भाषी प्रदेशों के सन्तों की वाणी से गुणवत्ता में किसी भी प्रकार कम नहीं है। ऐसा करने से ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपादेय हो गया है। प्रामाणिक सामग्री की खोज तथा खोजी हुई सामग्री के तलस्पर्शी मंथन और विवेचन के दायित्व को सभी विद्वानों ने सफलतापूर्वक निभाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ विद्वानों, शोधार्थियों, भक्तों, दार्शनिकों और सभी जिज्ञासु पाठकों के लिए प्रामाणिक और उपादेय सामग्री प्रस्तुत करता है। सभी विद्वान् लेखक और सम्पादक बधाई के पात्र हैं।

× × ×

दूसरे खण्ड में नयी कविता के सन्दर्भ में 'सर्जनात्मक भाषा,' 'बिम्बात्मकता,' 'सपाट बयानी,' 'विसंगति,' 'विडम्बना,' अनुभूति की 'जटिलता,' 'तनाव,' 'ईमानदारी,' 'प्रामाणिकता,' 'फैंटेसी,' 'नाटकीयता' आदि मुहावरों का विश्लेषण किया गया है। इस प्रक्रिया में लेखक ने कहीं-कहीं कुछ कविताओं की संक्षिप्त अर्थ-मीमांसा भी इस प्रकार की है जिससे लेखक द्वारा समर्थित काव्य-मूल्यों की पुष्टि हो सके।

इस ग्रन्थ में लेखक ने 'नयी आलोचना' की अमरीकी पद्धति में मार्क्सवादी मूल्य-बोध को जोड़ दिया है। अमरीका में लगभग सन् १९१० से 'नयी आलोचना' का जो दौर प्रारम्भ हुआ, उसके अन्तर्गत कविता में आत्मनिष्ठता एवम् रूमानियत का विरोध होने लगा था। आई० ए० रिचर्ड्स, टी० एस० इलियट, रैन्सम, कैनथ बर्क, क्लीथ ब्रुक्स आदि 'नयी-आलोचना' के समर्थकों की धारणा है कि कविता का विश्लेषण उसके रूप या शिल्प का ही विश्लेषण है, क्योंकि समालोचक के सामने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अतः नयी आलोचना के अपने मुहावरे बने—भाषा और विसंगति, अर्थ मीमांसा, तनाव का काव्यशास्त्र, सरचना के सिद्धांत और विडम्बना, जटिलता, दुरूहता, अर्थ की परतें सपाटबयानी आदि। इस प्रकार अमरीका से आयातित ये प्रतिमान नयी कविता के सदर्भ में 'फिट' कर दिए गए हैं। लेखक का कहना है कि कविता के नये प्रतिमान' के केन्द्र में मुक्तिबोध हैं, किन्तु मुक्तिबोध की कविता या नयी कविता से कविता के नये प्रतिमानों की प्रतिष्ठा हुई हो, ऐसा कहीं दिखाई नहीं देता। मुक्तिबोध ने 'राजनैतिक भावावेश,' 'वीरान मध्यता', 'संघर्ष के रौद्र रूप' आदि छायावादी युग के शब्दों का प्रयोग किया है, जिन्हें प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने कहीं नहीं अपनाया। उन्हें उनके सन्दर्भ से हटाकर अभीप्सित अर्थ प्रदान करने से लेखक द्वारा स्थापित प्रतिमानों को मुक्तिबोध के काव्य से उद्भूत प्रतिमान नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त ग्रंथ के दूसरे खंड के आलोचना के मुहावरे कविता की एकांगिता के ही परिचायक हैं, सार्वकालिक नहीं। तनाव, विसंगति विडम्बना आदि तत्व नयी कविता में तो मिलते हैं, किन्तु ये कविता के सार्वकालिक तत्व नहीं हैं। भक्तिकालीन और छायावादी कविता में एक प्रकार के सामंजस्य और समरसता के दर्शन होते हैं तो नयी कविता में द्वंद्व और तनाव के। लेखक ने इन दोनों स्थितियों को अलग-अलग परिवेशों से सम्बद्ध किया है। यद्यपि यह ठीक है कि आज का यथार्थ विसंगति-बोध है, किन्तु क्या इस युग-बोध की कविता के लिए निर्धारित प्रतिमान कविता मात्र के प्रतिमान बन सकेंगे? नये प्रतिमानों की प्रतिष्ठा के लिए अच्छा होगा यदि आदि काल की कविता से लेकर अब तक की कविता के विश्लेषण-विवेचन द्वारा कुछ सामान्य सारभूत तत्वों तक पहुंचा जाता जो कविता-मात्र पर घटित हो सकें।

—डॉ० शिवप्रसाद गोयल

राहुल सांकृत्यायन : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—सपादक : डॉ० ब्रह्मानन्द, प्रकाशक-हरियाणा प्रकाशन, एच-४, मॉडल टाउन, दिल्ली-९, मूल्य : सत्रह रुपये पचास पैसे।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय देने वाले इस ग्रन्थ के चार भाग हैं। प्रथम भाग मे सात लेख हैं जिनमे राहुल जी के पारिवारिक और साधक जीवन का परिचय दिया गया है। द्वितीय भाग मे ग्यारह लेख है जिनमे राहुल-साहित्य एव उनकी चिन्तन दृष्टि को स्पष्ट किया गया है। तृतीय भाग मे केवल तीन लेख हैं जिनमे उनके विश्व पर्यटन एव विदेशो मे किए गए कार्यों का परिचय दिया गया है। चतुर्थ भाग मे दस निबन्ध है जिनमे विविध विद्वानो के वे सस्मरण एवं अनुभव है, जो उनके सहज-सरल स्वभाव और व्यक्तित्व का आकलन करते हैं। परिशिष्ट मे राहुल जी द्वारा समय-समय पर लिखे गये अनेक पत्र संकलित हैं। इसमे राहुल जी, डॉ० कमला सांकृत्यायन, उनकी पुत्री जया एव पुत्र जेता सहित राहुल जी की रूसी पत्नी श्रीमती येलेना सांकृत्यायन तथा उनके पुत्र ईगोर के चित्र भी दिए गए हैं।

राहुल जी ने लगभग सवा सौ ग्रन्थो की रचना की है और ये सभी रचनायें भारतीय भाषाओ, विशेषत हिन्दी मे ही हैं। राहुल जी ने हिन्दी के माध्यम से ही अपने सम्पूर्ण विचारो को अभिव्यक्ति दी है। साहित्य-स्रष्टा और साधक के रूप मे राहुल जी का स्थान सर्वोपरि है, इसमे कोई सन्देह नही है। प्राचीन साहित्य के उद्धार मे जो प्रयत्न उनके द्वारा किया गया है वैसा प्रयत्न किसी एक व्यक्ति के द्वारा नही किया गया है। भारतीय प्राचीन साहित्य, दर्शन और विश्व-इतिहास का इतना मर्मज्ञ विद्वान् हिन्दी जगत को अभी तक दूसरा नही मिला। यह ग्रन्थ राहुल जी के बहुमुखी व्यक्तित्व को पाठकों के सम्मुख लाने का सफल प्रयत्न है। शोधार्थियों के लिए तो यह ग्रन्थ मूल्यवान् है। सभी लेख अधिकारी विद्वानो द्वारा लिखे गये हैं, अत उनके बहुमूल्य और उपयोगी होने मे किसी प्रकार की कमी की सभावना नही है। अपनी सादी साज-सज्जा के कारण पुस्तक बाह्यावरण की दृष्टि से भी आकर्षक है।

—शैल कुमारी

× × ×

'भवन्ती'—ले० स. ही. वात्स्यायन 'अज्ञेय' प्रकाशक-राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, पृष्ठ सख्या १५०, [illegible] [illegible] [illegible] मूल्य—आठ रुपये।

'भवन्ती' मे भोक्ता एव रचयिता की मनन-चिन्तन, अनुभव-[illegible], [illegible] एव सूक्ष्म-पूर्ण मनःप्रक्रियाएं हैं, ऐसी जिनसे भाषा की [illegible], [illegible] सौन्दर्य बोधात्मक शक्ति-सामर्थ्य के पर्दे खुलते हैं और वह [illegible], [illegible], विश्लेषणात्मक एव [illegible] बन जाती है, जो [illegible] [illegible] 'अज्ञेय' [illegible]

अधिक किया। काव्य 'निराला' का श्रेष्ठ है। शब्द का ज्ञान 'पन्त' का सबसे सूक्ष्म है।
'प्रसाद' पढ़ाये जायेंगे। 'पन्त' से सीखा जायेगा। 'निराला' पढ़े जायेंगे।"

× × ×

......"छूता हूं, इसलिए हू ! क्या राय है, देकार्त ?"

इन 'अन्तःप्रक्रियाओ मे संस्कृत-ग्रीक (माइथोलोजी मे ही)—हिन्दी-अंग्रेजी बंगला भाषाओं का साहाय्य-माध्यम दृष्टिगत होता है। बाहुल्यक्रम है हिन्दी-संस्कृत-अंग्रेजी बंगला का, रचना है हिन्दी-अंग्रेजी-बंगला मे। यह सत्य है, जिसमे लिखा है वह उसी मे अनुभूत है, उसी मे सप्रेष्य है। आशंका है कि कही मत्सरी आलोचक इसे लेखक का आंग्ल-प्रेम (!) न कहे। परन्तु अनुभूति मे स्वयं 'अज्ञेय' जो है, वह उद्घाटित एवं सम्प्रेषित हैं।

स्वयं 'भवन्ती' (होने वाली, वर्तमाना, भावो से युक्त) भाषा माध्यम को नवीन सामर्थ्यों का आयाम प्रदान करने की उनकी पीडा का फल है। जिसमे प्रबुद्ध रचयिता, संवेदनशील अनुभावक, समालोचक, मौलिक विचारक, सूक्ष्म दार्शनिक, अधीत मनोविज्ञानी परन्तु शूर्प एव श्लील व्यंगकार (संभवतः ऐसा व्यक्तित्व स्वतः व्यंगकार हो जाता है !) सब एक साथ कार्य कर रहे हैं।

"ईश्वर को छू सकते हैं।
छू नही सकते तो और क्या कर सकते है ? दूसरी तो कोई पहचान ही नही है।"

बेलौस अनुभूतियो की इस 'मध्यमा' को जो पढ़ेंगे, वे बूझेंगे, आनन्दित (समृद्ध) होगें।

'रिव्यूयर' नाम भी सिद्ध कर दू, 'मिस्टेक' बताकर। पृष्ठ ४ पर पाद-पंक्ति का अन्तिम शब्द 'रही' के स्थान पर 'रीह' छपा है।

डॉ० रघुवीरशरण 'व्यथित'

विभागीय सूचनाएँ

१. शोध-संगोष्ठी

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के तत्वावधान में 'हिन्दी-अनुसंधान परिषद्' की ओर से डा० छविनाथ त्रिपाठी के संयोजकत्व में १५ से १८ दिसम्बर, ७२ के बीच चतुर्दिवसीय शोध-संगोष्ठी का आयोजन किया गया। हिन्दी-विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल ने उपस्थित श्रोताओं का स्वागत करते हुए आयोजन की मूल प्रेरणा और महत्ता पर प्रकाश डाला। शोध-संगोष्ठी का उद्घाटन कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० शरत्कुमार दत्त के भाषण से हुआ। तदुपरान्त विक्रम विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष आचार्य डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग की योजना के अन्तर्गत 'रीतिकाल का पुनर्मूल्याङ्कन' विषय पर शोधपूर्ण व्याख्यान दिया।

शोध-संगोष्ठी के १६ दिसम्बर के प्रातःकालीन सत्र की अध्यक्षता डा० खण्डेलवाल ने की। इस सत्र में दो पत्र पढ़े गये। डा० पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश' ने 'स्नातकोत्तर अध्ययन और शोध' विषय पर तथा डा० शिवप्रसाद गोयल ने 'शोध और आलोचना' विषय पर पत्रों का वाचन किया। सायंकालीन सत्र में डा० 'कमलेश' की अध्यक्षता में डा० शशिभूषण सिंहल ने 'शोध क्या और क्यों ?' विषय पर तथा डा० भीमसिंह मलिक ने 'विषय-विवेचन की वैज्ञानिक पद्धति' विषय पर अपने पत्र पढ़े।

१७ दिसम्बर के प्रातःकालीन सत्र में डा० छविनाथ त्रिपाठी ने अपने व्याख्यान में शोध-तन्त्र-सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक समस्याओं के समाधान प्रस्तुत किये। इस सत्र की अध्यक्षता डा० खण्डेलवाल ने की। सायंकालीन सत्र में डा० त्रिपाठी की अध्यक्षता में डा० हरिश्चन्द्र वर्मा ने 'शोध प्रबन्ध की रूप-रेखा के निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति' तथा डा० ब्रह्मानन्द ने 'तुलनात्मक शोध' विषय पर पत्र-वाचन किया।

१८ दिसम्बर को विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग' योजना के अन्तर्गत आचार्य डा० नगेन्द्र ने 'पाश्चात्य विचारकों की सौन्दर्य-विषयक अवधारणा' विषय पर पत्र पढ़ा तथा इसी दिन उन की अध्यक्षता में शोध-संगोष्ठी का समापन समारोह सम्पन्न हुआ।

■ ■ ■

२. पीएच डी. उपाधि-प्राप्त शोधार्थियों और उन के विषयों की सूची

(सन् १९६६-१९७८)

१. डा० प्रभाशंकर मिश्र—राहुल सांकृत्यायन के कथा-साहित्य का अध्ययन।
२. डा० कान्तिकुमार—छत्तीसगढ़ी की जनपदीय शब्दावली।
३. डा० छविनाथ त्रिपाठी—मध्यकालीन हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्तों का अध्ययन (१२००—१५००)।

४. डा० चरणदास शास्त्री—तुलसी-साहित्य में प्रतिपादित नैतिक मूल्यों का अध्ययन।

५. डा० सुधीन्द्र कुमार—रीतिकालीन शृंगार भावना के स्रोत।

६. डा० कृष्णा शर्मा—हिन्दी और कश्मीरी सूफ़ीतर संतकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन।

७. डा० सीता मिश्रा—हिन्दी के निर्गुण सन्तकाव्य में संगीततत्त्व (१४००-१७००)।

८ डा० प्रेमप्रकाश भट्ट—हिन्दी-गद्य को निराला की देन।

९. डा० शकुन्तला—पुष्टिमार्गीय वचनामृत साहित्य एक अध्ययन।

१०. डा० जियालाल हण्डू—कश्मीरी और हिन्दी सूफ़ी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।

११. डा० शान्तिप्रकाश वर्मा—प्रतापनारायण मिश्र की हिन्दी-गद्य को देन।

१२. डा० जॉन हेनरी आनन्द - पाश्चात्य विद्वानों की हिन्दी भाषा और साहित्य को देन (१८००-१९००)।

१३. डा० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव—मालवा की आधुनिक हिन्दी-साहित्य को देन (१९००-१९६०)।

१४. डा० कृष्णमुरारी मधोक—आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य को पंजाबी लेखकों की देन (१९००-१९६०)।

१५. डा० ब्रजमोहन शर्मा छायावादी काव्य का भावात्मक सौन्दर्य।

१६. डा० रामफल - हिन्दी उपन्यासो मे वातावरण तत्त्व।

१७. डा० जवाहरलाल हण्डू—कश्मीरी तथा खडी बोली (हिन्दी) के लोकगीतो का तुलनात्मक अध्ययन।

१८ डा० शिबनकृष्ण रैना हिन्दी और कश्मीरी लोकोक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन।

१९. डा० ओमप्रकाश भारद्वाज—दशमग्रन्थान्तर रामावतार तथा कृष्णावतार का का व्यशास्त्रीय अध्ययन।

२०. डा० रमेश अंगीरस निराला काव्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।

२१. डा० पुष्पा शर्मा - बीसवी शताब्दी के हिन्दी काव्य-साहित्य मे धर्म का स्वरूप।

२२. डा० पुष्पलता शर्मा—गाथा सप्तशती और रीतिकालीन शृंगारी सतसइयों का तुलनात्मक अध्ययन।

२३. डा० कमलकुमारी गुप्ता—राजनैतिक, सामाजिक व सास्कृतिक सदर्भ मे हिन्दी निबन्ध साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन।

२४. डा० राजकुमार—छायावादोत्तर काव्य में प्रतीक एवं बिम्ब विधान (१९३७-६५)।

२५. डा० मदनलाल वर्मा—हिन्दी काव्य में युद्धवर्णन वैशिष्ट्य अन्वेषण (११४०-१८५७)।
२६. डा० हुकमचन्द—हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में राम और कृष्ण काव्य में नवीन जीवन मूल्यों का अन्वेषण (१९००-५०)।
२७. डा० बलराज शर्मा—नरहरदास की पौरुषेय रामायण का तुलनात्मक अध्ययन।
२८. डा० पुष्पलता अवस्थी—हिन्दी तथा पंजाबी मुहावरों का तुलनात्मक अध्ययन।
२९. डा० राममूर्ति शर्मा—श्री रामनरेश त्रिपाठी और उनका साहित्य।
३०. डा० दामोदर वशिष्ठ—कविवर नजीर अकबराबादी के हिन्दी काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन।
३१. डा० लालचन्द—नई कहानी पर अस्तित्ववाद का प्रभाव (सन् १९५०-१९६५)।
३२. डा० उमाशशि सोनी—सन्तकाव्य का सामाजिक पक्ष।
३३. डा० पवनकुमार जैन—रीतिकालीन काव्य विधाओं का शास्त्रीय अध्ययन।
३४. डा० चन्द्र कान्ता सूद—पंजाब में हिन्दी पत्रकारिता का विकास (१९००-१९६०)।
३५. डा० भीमसिंह मलिक - जायसी काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन।
३६. डा० लक्ष्मीनारायण - हिन्दी कविता में पुराख्यान तत्त्व (१९४७-१९६७)।
३७. डा० हरिश्चन्द्र वर्मा—नयी कविता के नाट्य-काव्यों का रूप तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से अध्ययन।
३८. डा० आशा मोहता—प्रेमचन्द परवर्ती उपन्यास-साहित्य में पारिवारिक जीवन।
३९. डा० लक्ष्मण सिंह—हाथरस के हिन्दी मार्गो का इतिहास और उनकी कला।
४०. डा० शिवाशंकर पाण्डेय—रामसनेही सम्प्रदाय की दार्शनिक पृष्ठभूमि।
४१. डा० रामकुमार—समसामयिक हिन्दी गीति-काव्य : परम्परा और प्रयोग (१९४७-१९६७)।

■ ■ ■

२. पीएच. डी. उपाधि के लिए पंजीकृत शोध-छात्रों की सूची

१. श्री सत्यवीर सिंह वर्मा—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नैतिक मानदण्ड।
२. श्री परमानन्द गुप्त—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी [illegible]।
३. कु० गीता भार्गव—उपन्यासकार अज्ञेय के पुरुष पात्र।
४. श्री सूरजनारायण मलला—हिन्दी काव्य समीक्षा का मूल्यांकन (१९६१ से ७० तक)।
५. श्री चन्द्र कंव—भानुदत्त की रचनाओं का हिन्दी [illegible] पर प्रभाव।
६. श्री उपेन्द्र कुमार शर्मा—निराला और नजरुल का तुलनात्मक अध्ययन।

७. श्री प्रताप सिंह सिसोदिया—कामायनी महाकाव्य : एक वैज्ञानिक विश्लेषण।

८. श्रीमती उर्मिला रानी—बिहारी सतसई मे काव्य, संस्कृति और दर्शन।

९. श्री हरि कृष्ण चड्ढा—भक्तिरस और उसकी पूर्व मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे अभिव्यंजना।

१०. श्री यशराज - हिन्दी और मराठी साहित्य मे रामकाव्य।

११. श्री विनय कुमार—नानक प्रकाश का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन।

१२. श्री रमेश चन्द्र गुप्त—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी रंगमंचीय नाटक का विकास (१९४७–१९६८)।

१३. कु. सरला गुप्त—उदयशंकर भट्ट का नाटक–साहित्य : कथ्य और शिल्प।

१४. श्री जगदीश चन्द्र अरोड़ा—हिन्दी अभिनन्दन ग्रन्थों की हिन्दी-साहित्य को देन।

१५. श्री राणा प्रतापसिंह—हिन्दी और उर्दू काव्य मे राष्ट्रीय भावना : तुलनात्मक अध्ययन (१९०० से १९६७ तक)।

१६. कु. प्रमीला—हिन्दी उपन्यास मे नारी का मातृ रूप (१९०० से १९५०)।

१७. श्रीमती विश्ववरा – स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य मे हास्य-व्यग्य (सन १९४७–१९६७)।

१८. श्री ओम प्रकाश शर्मा—संत काव्य मे माया का स्वरूप (वि० संवत् १४०० से १७००)।

१९. श्री वल्लभ शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य मे वीर रस (सन् १९००-१९६७)।

२०. श्री हरि प्रकाश—कबीर पंथ मे संत कवि जैतराम की वाणी का मूल्यांकन।

२१. श्री रामरतन—नंद दुलारे बाजपेयी की हिन्दी आलोचना को देन।

२२. श्री सुतदेव हंस—आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों मे नारी चित्रण।

२३. श्री बलराज सिंह राणा—उपन्यासकार जैनेन्द्र के पुरुष पात्र।

२४. श्रीमती अनीता—हिन्दी रेखाचित्रों का समीक्षात्मक अध्ययन (१९२० से १९६०)।

२५. श्री गुरुदत्त शर्मा—सन्तरेण के गुरुनानक विजय महाकाव्य का पाठालोचन।

२६. श्री कृष्णगोपाल पीयूष गुलेरी—बीसवीं शताब्दी का प्रारंभिक साहित्योत्थान और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

२७. श्री मनोराम—राजस्थानी और ब्रजभाषा के वेलि काव्य का तुलनात्मक अध्ययन।

२८. श्री योगेश्वर देव—केशव की रामचन्द्रिका का साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन।

२९. श्री निगम चन्द्र उपाध्याय—खड़ी बोली के एकार्थ काव्य (सन् १९२० से १९६०)।

३०. श्री कंवलनयन कपूर—नई कहानी में सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण।

३१. श्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल—कबीर साहित्य के प्रेरणा स्रोत।

३२. श्रीमती सवित्री शर्मा—नन्द दास की भाषा।

३३. श्री भीष्मलाल—मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में पुरुष सौन्दर्य चित्रण।

३४. श्री ओमप्रकाश आनन्द शर्मा - पंजाब में रचित सतसई साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन (१८०० से १९०० ए डी)।

३५. श्री बैजनाथ सिंहल—मानवीय मूल्यों की दृष्टि से नयी कविता का अध्ययन (१९५० से १९७० तक)।

३६. श्रीमती शकुन्तला खोसला—भारतीय पुनरुत्थान के संदर्भ में निराला काव्य का अध्ययन।

३७. श्री रमेशकुमार—आधुनिक हिन्दी कहानी में विदेशी वातावरण।

३८. कु. शांन्त कुमारी—कवि प्रसाद पर सम्पन्न शोध: विश्लेषण और मूल्यांकन (सन् १९७० तक प्रकाशित कृतियों के आधार पर)।

३९. श्री अमरनाथ कश्यप—नयी कविता एवं युगबोध।

४०. कु. शकुन्तला पोद्दार—आधुनिक हिन्दी काव्य में राम का स्वरूप (१९०० १९५०)।

४१ श्री रामरज मिश्र—एटा जिले की सांस्कृतिक शब्दावली।

४२. श्री हरिचन्द्र दीक्षित - हिन्दी ललित निबन्ध।

४३ कु. प्रेमलता बावला—[illegible] घनानन्द के काव्य में भक्ति का स्वरूप।

४४. श्री अरविन्द कुमार--नई कविता पर विज्ञान का प्रभाव (सन् १९५० से १९७० तक)।

४५. श्री रामचन्द्र तिवारी - स्वाधीनता के बाद हिन्दी [illegible] का विकास।

७. श्री प्रताप सिंह सिसोदिया—कामायनी महाकाव्य : एक वैज्ञानिक विश्लेषण।
८. श्रीमती उर्मिला रानी—विहारी सतसई मे काव्य, संस्कृति और दर्शन।
९. श्री हरि कृष्ण चड्ढा—भक्तिरस और उसकी पूर्व मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे अभिव्यंजना।
१०. श्री यशराज हिन्दी और मराठी साहित्य मे रामकाव्य।
११. श्री विनय कुमार—नानक प्रकाश का काव्य-शास्त्रीय अध्ययन।
१२. श्री रमेश चन्द्र गुप्त—स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी रंगमचीय नाटक का विकास (१९४७–१९६८)।
१३. कु. सरला गुप्त—उदयशंकर भट्ट का नाटक-साहित्य : कथ्य और शिल्प।
१४. श्री जगदीश चन्द्र अरोड़ा—हिन्दी अभिनन्दन ग्रन्थो की हिन्दी-साहित्य को देन।
१५. श्री राणा प्रतापसिंह—हिन्दी और उर्दू काव्य मे राष्ट्रीय भावना : तुलनात्मक अध्ययन (१९०० से १९६७ तक)।
१६. कु. प्रमीला—हिन्दी उपन्यास मे नारी का मातृ रूप (१९०० से १९५०)।
१७. श्रीमती विश्ववरा– स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्य मे हास्य-व्यग्य (सन् १९४७–१९६७)।
१८. श्री ओम प्रकाश शर्मा—संत काव्य मे माया का स्वरूप (वि० संवत् १४०० से १७००)।
१९. श्री वल्लभ शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य मे वीर रस (सन् १९००-१९६७)।
२०. श्री हरि प्रकाश—कबीर पंथ मे संत कवि जैतराम की वाणी का मूल्यांकन।
२१. श्री रामरतन—नंद दुलारे बाजपेयी की हिन्दी आलोचना को देन।
२२. श्री सुतदेव हंस—आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों में नारी चित्रण।
२३. श्री बलराज सिंह राणा—उपन्यासकार जैनेन्द्र के पुरुष पात्र।
२४. श्रीमती अनीता—हिन्दी रेखाचित्रो का समीक्षात्मक अध्ययन (१९२० से १९६०)।
२५. श्री गुरुदत्त शर्मा—सन्तरेण के गुरुनानक विजय महाकाव्य का पाठालोचन।
२६. श्री कृष्णगोपाल पीयूष गुलेरी—बीसवी शताब्दी का प्रारंभिक साहित्योत्थान और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।
२७. श्री मनोराम—राजस्थानी और ब्रजभाषा के वेलि काव्य का तुलनात्मक अध्ययन।
२८. श्री योगेश्वर देव—केशव की रामचन्द्रिका का साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन।

२९. श्री निगम चन्द्र उपाध्याय—खड़ी बोली के एकार्थ काव्य (सन् १९२० से १९६०)।

३०. श्री कंवलनयन कपूर—नई कहानी मे सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण।

३१. श्री लक्ष्मीनारायण अग्रवाल—कबीर साहित्य के प्रेरणा स्रोत।

३२. श्रीमती सावित्री शर्मा—नन्द दास की भाषा।

३३. श्री भीष्मलाल—मध्ययुगीन हिन्दी काव्य मे पुरुष सौन्दर्य चित्रण।

३४. श्री ओमप्रकाश आनन्द शर्मा - पजाब मे रचित सतसई साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन (१८०० से १९०० ए डी)।

३५. श्री बैजनाथ सिहल—मानवीय मूल्यो की दृष्टि से नयी कविता का अध्ययन (१९५० से १९७० तक)।

३६. श्रीमती शकुन्तला खोसला—भारतीय पुनरुत्थान के सदर्भ मे निराला काव्य का अध्ययन।

३७. श्री रमेशकुमार—आधुनिक हिन्दी कहानी मे विदेशी वातावरण।

३८. कु. शैल कुमारी—कवि प्रसाद पर सम्पन्न शोध : विश्लेषण और मूल्यांकन (सन् १९७० तक प्रकाशित कृतियो के आधार पर)।

३९. श्री अमरनाथ कश्यप—नयी कविता एव युगबोध।

४०. कु. शकुन्तला गोदारा—आधुनिक हिन्दी काव्य मे राम का स्वरूप (१९०० १९५०)।

४१ श्री रामरत्न मिश्र—एटा जिले की सांस्कृतिक शब्दावली।

४२. श्री हरिश्चन्द्र दीक्षित - हिन्दी ललित निबन्ध।

४३ कु. प्रेमलता बावला—प्रसार प्रबन्ध के काव्य म भक्ति का स्वरूप।

४४. श्री अरविन्द कुमार—नई कविता पर विज्ञान का प्रभाव (सन् १९५० से १९७० तक)।

४५ श्री रामचन्द्र तिवारी - स्वाधीनता के बाद हिन्दी पत्रकारिता का विकास।

आगामी अंकों के

अक्तूबर ७२ • अंक २

- रीतिकाव्य का पुनर्मूल्यांकन
- आधुनिकता और नवीन भाव-बोध
- सूर साहित्य : नवीन चिंतन-दिशाएँ
- प्रबन्धकाव्य का एक नवीन भेद — प्रसंग काव्य
- आंचलिक उपन्यास : उपलब्धियाँ
- झंझा-झकोर-गर्जन के मध्य कांपती हुई दीपशिखा : द ईडियट
- क्रोचे का सौंदर्यशास्त्र
- फ्रेंच कविता में रोमांसवाद
- संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन
- उर्दू में साहित्य-समीक्षा की विभिन्न दिशाएँ
- साहित्येतिहास-दर्शन का स्वरूप
- विकसनशील लोकधर्मी रोमांच महाकाव्य — निहालदे सुलतान
- प्राकृत मे कृष्ण काव्य

आदि-आदि······

• विदेशों के वातायन से • सामयिक साहित्य • ग्रन्थ-समीक्षा • साहित्यिक समारोह, पुरस्कार-चर्चा • पाठकीय क्रिया-प्रतिक्रिया आदि स्थायी स्तम्भ ।

- *लेखक एवं प्रकाशक अपने नवीनतम प्रकाशनों की तीन-तीन प्रतियां समीक्षार्थ भेजें ।*
- *विज्ञापन-दाता अपने विज्ञापन भेजने के लिए तथा पाठक एवं पुस्तकालय अपनी प्रति अभी से सुरक्षित कराने के लिए सम्पर्क करें :—*

वार्षिक शुल्क : १० रु०
एक अंक : ८ रु०

प्रबन्ध सम्पादक, 'संभावना',
हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र

प्रमुख आकर्षण

अंक ३-४

शोध—विशेषांक

सामग्री : एक झलक में—

• शोध वृत्ति • शोध की अवधारणा • शोध और समीक्षा • साहित्यिक शोध और वैज्ञानिक शोध • साहित्यिक शोध की मूल प्रकृति • साहित्यिक शोध में मानव ज्ञान के विविध अनुशासनों की भूमिका • आदर्श शोध के प्रतिमान • विषय निर्वाचन • रूपरेखा-निर्माण का वैज्ञानिक पद्धति • सामग्री सकलन • क्षेत्रीय शोध-कार्य • पुस्तकालय का उपयोग • तथ्य और शोधोपयोगी तथ्य • विषय-विवेचन • प्रमाणीकरण • निष्कर्ष • भूमिका एवं परिशिष्ट निर्माण • शोधार्थियों के लिए शोध की वांछित पूर्व पीठिका प्रदान करने की समस्या • शोध और स्नातकोत्तर अध्यापन • लोक-साहित्यिक शोध • भाषा वैज्ञानिक शोध • तुलनात्मक शोध • प्राचीन भारतीय शोध पद्धति • शोध में न्याय-शास्त्र की भूमिका • पश्चिम में हिन्दी-शोध की वर्तमान गति-विधि • हिन्दी शोध की उपलब्धि • शोध के बढ़ते चरण • शोध के भूषण और दूषण, आदि-आदि ·

— o —

पठनीय • विचारोत्तेजक • संग्रहणीय

सुदृढ़ व स्थायी सामग्री से भरपूर—पूरी सजधज से निकल रहा है।

इस विशेषांक का मूल्य २० रु०—विदेशों में ४० शिलिंग १० डालर। तीन वर्ष का वार्षिक शुल्क ३० रु० अग्रिम भेजने वालों को यह विशेषांक १० रु० में ही मिलेगा।

विदेशों के वातायन से

विदेशों में हिन्दी की गतिविधि की झलक प्राप्त करने के उद्देश्य से हम इस स्तम्भ के अन्तर्गत उन कुछ महानुभावों के नाम, उनके पते सहित (आशा है, पते ठीक है) दे रहे है जो विदेशों में हिन्दी की सेवा कर रहे है और जिनसे सम्पर्क करके पाठक पारस्परिक विचार-विनिमय का लाभ प्राप्त कर सकते है :

१. **डॉ० रमेश माथुर :** जापानी की भाषा पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है, जापान के जीवन, साहित्य व संस्कृति मे गहरी रुचि;

पता—Dr. Ramesh Mathur, Post-box No. 56, Ataml City, P C 413, Japan.

२. **Shri David J. Dell** कोलम्बिया विश्वविद्यालय में एम. ए. हिन्दी के छात्र रहे है, हिन्दी मे वहीं पी-एच. डी. के लिए कार्य करने मे संलग्न; प्रसाद के काव्य तथा छायावाद युग के गद्य-साहित्य मे विशेष रुचि; 'प्रसाद' की काव्य-रचनाओं का अंग्रेजी में कुशलता से अनुवाद कर रहे हैं।

पता—2C 998 Amsterdam Avenue, New York, N. Y. 10025. U. S. A.

३. **श्री कातुरो कोगा :** ओसाका विश्वविद्यालय मे हिन्दी के प्राध्यापक; भाषा और व्याकरण मे गहरी रुचि, हिन्दी-जापानी कोश कार्य अत्यन्त श्रमपूर्वक सम्पन्न किया है; हिन्दी बहुत स्पष्ट व अधिकारपूर्वक लिखते व बोलते है, हिन्दी के निष्ठावान् सेवक व अध्यापक, भारत पुनः आने की योजना है।

पता—The Osaka University of Foreign Studies, Uehommachi Hatchome, Tennojiku, Osaka (Japan)

४. **प्रो० डॉ० लक्ष्मण प्रसाद मिश्र :** रोम, वेनिस आदि विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के अध्यापक, कबीर और विद्यापति के ग्रन्थो का इतालवी मे अनुवाद किया है; इतालवी भाषा के माध्यम से डी. लिट् की उपाधि प्राप्त करने वाले पहले विदेशी छात्र; मार्च '७३ के लगभग संभवतः भारत आवें। कई वर्षों से इटली मे हैं।

पता—Via R R. Pereira 41, 00136, Rome (Italy)

५. **श्री वेद प्रकाश वटुक :** अमरिका मे रह कर कई वर्षों से लोक-साहित्य विषयक शोध-कार्य कर रहे हैं। गत वर्ष भारतीय विश्वविद्यालयो मे भाषण दिये थे। जीवट से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। भारत मे हिन्दी-पत्रिकाओ मे लेख प्रकाशित रहते हैं।

पता—Shri Ved Prakash Vatuk, 537, Sheridan Road, Evanston, Ill 60202, U. S. A.

६. डॉ० बसन्त जोशी : 'निराला' के काव्य पर डॉक्ट्रेट की उपाधि भारत में प्राप्त की। कई वर्षों तक कैलिफोर्निया आदि विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्यापन किया, कई संस्थाओं से सम्बद्ध; पहले बड़ौदा विश्वविद्यालय में थे।

पता—2323 Bishop St., Apt 6, Ann Arbour, Michigan, 48105, U. S. A.

७. डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय : लंदन विश्वविद्यालय के स्कूल आफ ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज में हिन्दी के प्राध्यापक, मध्यकालीन साहित्य, विशेषतः सूफी साहित्य के गम्भीर शोधक और अध्येता। अमरीका में भी लगभग १ वर्ष रह चुके हैं।

पता—Dr. S. M. Pandey, SOAS, University of London, London WC I.

प्रतिक्रियाएँ

२ अप्रैल, ७२ के हिन्दी साप्ताहिक 'दिनमान' (नई दिल्ली) में, पृष्ठ १० पर, 'चरचे और चरखे' स्तम्भ के अन्तर्गत निम्न टिप्पणी प्रकाशित हुई है —

रामायण और समाजवाद

अभी ज्यादा दिन नहीं बीते गालिब शताब्दी समारोह की चारों तरफ धूम थी। शिक्षा, संस्कृति तथा प्रचार माध्यम से जुड़ी सभी संस्थाओं ने धूम से यह शताब्दी मनायी। इससे कितना लाभ हुआ यह हम नहीं जानते। क्या भारतीय मानस गालिब को एक भाषा विशेष का ही कवि न मान कर एक भारतीय कवि के रूप में देख सका? इस सवाल पर शायद यह कह दिया जाये कि ऐसा सोचने की अभी आदत नहीं। गालिब शताब्दी समारोह पूरा होते-होते आवाज उठी मानस चतुर्शती समारोह की। यह आवाज जहां तक हमारा ख्याल है पहले नहीं सुनायी दी थी। इसलिए लोगों की इस सोच पर आपत्ति नहीं की जा सकती कि भाषाई होड़ और बहुत कुछ साम्प्रदायिक भाव से यह आवाज उठायी गयी। गालिब, तो तुलसीदास क्यों नहीं? यह सोच गलत है। क्योंकि इसका कोई अंत नहीं है।

ऐसे समारोहों पर जनता के धन का जो अपव्यय होता है वह तकलीफदेह होते हुए भी हम उसके विस्तार में यहां अभी नहीं जायेंगे। रामायण की चतुर्शती समारोह के लिए कितना धन किन किन संस्थाओं को दिया जा रहा है यह विचारणीय है। कम से कम चतुर्शती में चौगुना तो हो ही, पर फिलहाल इसे छोड़ दें, और सोचें कि उस देश के लिए जो समाजवाद को समर्पित है रामायण को इतना महत्व देना असंगत क्यों नहीं है? रवीन्द्र और गालिब फिर भी साहित्य से ही जुड़े हुए थे। रामायण साहित्य के नाम पर उतनी नहीं जितनी धर्म और कर्मकांड के नाम पर घर घर में घुसी हुई है और जनता की पूरी चेतना को सुलाये हुए है, विषाक्त कर चुकी है। रामायण जिन मूल्यों का प्रतिपादन करती है क्या वे लोकतांत्रिक समाजवादी मूल्य हैं? क्या रामायण में जनता का योग केवल हंसने या रोने को छोड़ और कुछ भी है? क्या रामायण की जनता ने किसी भी अन्याय के विरुद्ध सर उठाया? क्या रामायण एक विशेष वर्ग को ही समर्थन नहीं देती और स्त्री तथा हरिजन या अन्य पिछड़े वर्गों की पराधीन मनस्थिति बनाए रखने में उन्हें उनके स्वस्थ सामाजिक अधिकारों से वंचित नहीं रखती? रामायण ऐसे किन मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है जो लोकतन्त्रीय और समाजवादी हों और हमारे समसामयिक जीवन के संदर्भ में संगत कहे जा सकें? ये

यह बड़ा प्रश्न है जिस पर मध्यमवादी सरकार और उसके पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी वर्ग को विचार करना चाहिए। ऐसा विचार प्रगतिशील दृष्टि मांगती है जो सत्ताधारियों में उतनी ही कठिन होगी जितनी उनमें जो रामायण के प्रति अन्धभक्ति के शिकार हैं।"

—'दिनमान' से साभार

'सम्भावना' के 'तुलसी विशेषांक' के लिए हम अपने पाठकों से उक्त टिप्पणी पर विस्तृत समुचित व संक्षिप्त साहित्यिक प्रतिक्रियाएं आमंत्रित करते हैं। कुछ उत्तमोत्तम प्रतिक्रियाएं हम छापेंगे।

—सम्पादक

व्यवस्थापकीय

क्षमा-याचना

'संभावना' का यह प्रवेशांक अपने पाठकों के पास अप्रत्याशित विल
रहा है। योजनानुसार इस अंक का प्रकाशन वसन्त के आसपास अभीष्ट
स्थानीय मुद्रणालय की अत्यधिक व्यस्तता, उपयुक्त कागज के अभाव
विश्वविद्यालय के ग्रीष्मकालीन अवकाश के कारण विलम्ब बढ़ता चला ग
सम्पादक तथा पत्रिका के वर्तमान मुद्रक श्री ओम् प्रकाश शर्मा के अथक प्र
यह फल है कि इन प्रारम्भिक कठिनाइयों के होते हुए भी पत्रिका यथास
पाठकों के हाथ मे पहुच रही है। हमारे पाठक जिस उत्सुकता से इसकी प्रतीक्ष
हैं, जो उनसे प्राप्त पत्रों से ध्वनित होती है, हम उनके प्रति आभार प्रदर्शित
विलम्ब के लिए क्षमा प्रार्थना करते हैं और उन्हे विश्वास दिलाते है कि
पत्रिका निरन्तर ठीक समय पर उनके पास पहुचती रहेगी।

पाठकों तथा लेखकों से

संभावना मे प्राय: कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्याप
छात्रों तथा प्राङ्गण एवं देश-विदेश के विद्वानों से विशेष रूप से आमंत्रित
प्रकाशित होती है। अनुचित राग-द्वेष की भावना से युक्त असन्तुलित सामग्री
मे प्रकाशित नही होती, हां, नवीन दृष्टि-बिन्दु का पूर्ण स्वागत होता है। हम
सुचिन्तित, संक्षिप्त, विचारोत्तेजक सामग्री पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना है

'संभावना' मे प्रकाशित सामग्री मे निहित विचारों का दायित्व लेख
होगा। लेखकों के विचारों मे सम्पादक-मंडल का सहमत होना आवश्यक नही

'संभावना' कोई व्यापारिक प्रतिष्ठान नही है। यह केवल प्रौढ़ चिन्तन क
बनने का एक विनम्र प्रयास है। अपने सीमित तन्त्र के कारण हम केवल
आवश्यकता पड़ने पर ही तथा अत्यन्त संक्षिप्त पत्र-व्यवहार करते है। अत: कृ
प्रत्येक पत्र के उत्तर की आशा न की जाय।

प्रकाशनार्थ स्वत: प्रेषित सामग्री के लौटाने का नियम नहीं है। यदि
प्राप्त सामग्री मे से कोई सम्पादक-मंडल की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण हुई तो उसक
[illegible]

यह पत्रिका अपनी गतिविधि मुख्यतः हिन्दी भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी शोध और समीक्षा तक ही सीमित रखेगी। हमारा आगामी अंक अक्तूबर ७२ में प्रकाशित होगा।

'सम्भावना' विश्व भर के हिन्दी विद्वानों के पारस्परिक विचार-विनिमय का एक सेतु है। देश-विदेश के सभी विश्वविद्यालयों, अन्य शिक्षण संस्थाओं तथा पुस्तकालयों तक इसका प्रसार-प्रचार है। अतः विज्ञापन तथा पुस्तक-समीक्षा का यह एक उत्तम माध्यम है। पुस्तक-समीक्षा के लिए प्रत्येक पुस्तक की तीन-तीन प्रतियाँ प्रबन्ध सम्पादक के नाम आनी चाहिए।

विज्ञापन-दाता विज्ञापन-शुल्क आदि के लिए शीघ्र सम्पर्क करें।

प्रबंध सम्पादक, 'सम्भावना',
हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र

इस अंक के लेखक

१.	डॉ० नगेन्द्र	...	हिन्दी के मूर्धन्य समीक्षक, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली में हिन्दी के आचार्य।
२.	डॉ० श्याम मनोहर पाण्डेय	...	लंदन विश्वविद्यालय के स्कूल ऑफ ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज में हिन्दी के प्राध्यापक, सूफी-साहित्य के गंभीर अध्येता।
३	डॉ० रामसेवक सिंह		कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में रीडर, हिन्दी और अंग्रेजी साहित्य-समीक्षा में समान रुचि व गति।
४.	डॉ० रमेश कुन्तल मेघ		पंजाब विश्वविद्यालय के हिन्दी स्नातकोत्तर केन्द्र, जालन्धर, में रीडर, कवि तथा गुणी समीक्षक।
५	श्री कात्सुरो कोगा	..	ओसाका (जापान) विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, हिन्दी भाषा तथा साहित्य के मान्यवान् अध्येता।
६	डॉ० [illegible] उपाध्याय	.	काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, [illegible] भक्ति-साहित्य में [illegible]।
७	डॉ० [illegible] त्रिपाठी		कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में [illegible]
८	डॉ० [illegible] द्विवेदी		कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय [illegible]

९. डॉ० श्रीनिवास शास्त्री	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक, व्याकरण, साहित्य और दर्शन के मर्मवेत्ता।
१०. डॉ० भीमसिंह मलिक	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, जायसी-साहित्य के समर्थ विवेचक।
११. डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, हिन्दी-संस्कृत साहित्य के मर्म-चिन्तक।
१२. डॉ० 'कमलेश'	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में रीडर, जीवट के कवि तथा सजग समीक्षक।
१३. डॉ० शशिभूषण सिंहल	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक; उपन्यास-साहित्य में प्रगाढ़ रुचि।
१४. डॉ० शिव प्रसाद गोयल	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक; आधुनिक काव्य-प्रकारों के स्वरूप के अन्वेषक।
१५. कुमारी शील कुमारी	...	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रसाद-साहित्य की शोध-छात्रा।
१६. डॉ० रघुवीरशरण 'व्यथित'	...	श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक; भाव और रस-तत्त्व के प्रबुद्ध विचारक।